



माणिक्यचन्द्र-दिगम्बर-जैनग्रन्थमालायाः  
षट्त्रिंशत्तितमो ग्रन्थः ।



श्रीमद्राजमल्लविरचिता  
लाटीसंहिता ।

साहित्यरत्न पण्डित दरबारीलाल न्यायतीर्थेण  
सम्पादिता संशोधिता च ।

प्रकाशिका—

श्रीमाणिक्यचन्द्र-दिगम्बर-जैन-  
ग्रन्थमाला-समितिः । ✓

वार्निङ्ग, बंगल निवाण सं० २४

वि० सं० १९४४

प्रथमावृत्तिः ]

[ मन्वन्तमाला-समितिः ]

प्रकाशक  
नाथूराम प्रेमी, मन्त्री,—  
श्रीमाणिकचन्द-दिगम्बर—  
जैनग्रन्थमालासमिति,  
हीराबाग, पो० गिरगांव—वम्बई ।



सुप्रसिद्ध शास्त्रदानां,  
जिनवाणीभक्त,  
श्रीमान् लाला उम्मेदसिंह मुसद्दीलालजी  
अमृतसरनिवासीकी  
स्वर्गीया साध्वी धर्मपत्नीके  
स्मरणार्थ ।



## ग्रन्थकर्त्ताका परिचय ।

इस ग्रन्थके रचयिताके विषयमें इस ग्रन्थसे और हमकी प्रशस्तिसे बहुत कुछ परिचय मिल जाता है ।

अनुमान है कि पञ्चाध्यायी भी इन्हींकी बनाई हुई है । इसके विषयमें प्रसिद्ध साहित्यसेवी प० जुगलकिशोरजी मुन्तारने एक लेख 'वीर' नामक पत्रके वर्ष ३ अंक १२-१३ में प्रकाशित कराया है, उसका हम यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक समझते हैं ।

### “कवि राजमहल और पञ्चाध्यायी ।

जैन ग्रन्थोंमें 'पञ्चाध्यायी' नामका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है । यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ, आजसे २० वर्ष पहले प्रायः अग्रसिद्ध था—कोल्हापुर, अजमेर आदिके कुछ थोड़ेसे ही भंडारोंमें पाया जाता था और बहुत ही कम विद्वान् इससे परिचित थे । एक संवत् १८२८ (वि० सं० १९६३) में गांधी नाथारंगजीने इसे कोल्हापुरके 'जेनेन्द्र मुद्रणालय' में छपाकर प्रकाशित किया, तभीसे यह ग्रन्थ विद्वानोंके विशेष परिचयमें आया, विद्वद्वर्य प० गोपालदासजीने इसे अपने शिष्योंको पढ़ाया, प० प्रवरानलाटजीने इसपर भाषाटीका लिखी, और इस तरह पर समाजमें इसका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ा । अपने नाम परसे—ग्रन्थके आदिमें महत्त्वपर्यमें प्रयुक्त हुए 'पञ्चाध्यायावयव' इस विशेषण पर परसेभी—यह ग्रन्थ पांच अध्यायोंका समुदाय जान पड़ता है । परन्तु इसका जितना उपलब्ध है उसे अधिकसे अधिक देह अध्यायके करीब कह सकते हैं, और यह भी सकता है कि वह एक अध्याय भी पूरा न हो । क्योंकि ग्रन्थमें अध्या-विभागको छिये हुए कोई सन्धि नहीं है और न पांचों अध्यायोंके प्रारंभोंको ही एक ही शब्द 'सुचित' किया है । शुरुमें 'ग्रन्थसामान्यनिरूपण'

नामका एक प्रकरण प्रायः ७७० श्लोकोंमें समाप्त किया गया है, उसे यदि एक अध्याय माना जाय तो यह ग्रन्थ ढेढ़ अध्यायके करीब है और यदि अध्यायका एक अंश ( प्रकरण ) माना जाय तो इसे एक अध्यायसे भी कम समझना चाहिये । बहुत करके वह प्रकरण अध्यायका एक अंश ही जान पड़ता है, दूसरा-द्रव्यनिशेषनिरूपण नामका-अंश उसके आगे प्रारम्भ किया गया है जो, ११४५ श्लोकोंके करीब होनेपर भी अधूरा है । परन्तु वह आद्य प्रकरण एक अंश हो या पूरा अध्याय हो-कुछ भी सही-इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृत ग्रन्थ अधूरा है-उसमें पांच अध्याय नहीं है-और इसका कारण ग्रन्थकारका उसे पूरा न कर सकना ही जान पड़ता है । मालूम होता है ग्रन्थकार महोदय इसे लिखते हुए अकाठमें ही काटके मालमें चले गये हैं और इसीसे यह ग्रंथ अपनी वर्तमान स्थितिमें पाया जाता है-उसपर ग्रन्थकारका नाम तक भी उपलब्ध नहीं होता । अस्तु; जबसे यह ग्रन्थ प्रकट हुआ है तबसे जनता इस बातके जाननेके लिये बराबर उत्कण्ठित है कि यह ग्रन्थ कौनसे आचार्य अथवा विद्वान्का बनाया हुआ है और कब बना है । परन्तु विद्वान् लोग अभीतक इस विषयका कोई ठीक निर्णय नहीं कर सके और इसलिये जनता बराबर अंधेरेमें ही चली जाती है । ग्रन्थकी मौजूदा, युक्तिवादिता और विषय-प्रतिपादन-कुशलताको देखते हुए, कुछ विद्वानोंका इस विषयमें ऐसा सवाल रहा है कि यह ग्रन्थ शायद पुरुषार्थ-मिद्धरुपायादि ग्रन्थोंके कर्ता श्रीअमृतचन्द्राचार्यका बनाया हुआ हो । पं० मकसतनडालजी शार्ङ्गने तो इसपर अपना पूरा विश्वास ही प्रकट कर दिया और पंचाध्यायी-भाषाटीका-की अपनी भूमिकामें लिख दिया कि " पंचाध्यायीके कर्ता अनेकान्तप्रधानी आचार्यवर्य अमृतचन्द्र सूरि ही हैं । " परन्तु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है, और न अमृतचन्द्राचार्यको इस ग्रन्थका कर्ता माननेके लिये कोई युक्तियुक्त अथवा समर्थ कारण ही प्रस्तुत होता है । यह ग्रन्थ अमृतचन्द्राचार्यसे बहुत पीछेका-शताब्दियों बादका-बना हुआ है और इसके कर्ता, स्तौन करनेपर, ' कवि राजमठ '





किसी तरह पर भी श्लेषक—वाक्यको मिटाई हुई—नहीं हो सकती, क्योंकि ग्रन्थकारने अगले ही पद्यमें उसके उद्धरणको स्वयं स्वीकार तथा संकेत किया है और वह पद्य इस प्रकार है:—

उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।

नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ४६७ ॥

इस पद्यपरमे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रन्थकारने उक्त गाथाको उद्धृत करके उसे अपने ग्रन्थका एक अंग बनाया है और उसके विषयका स्पष्टीकरण करने अथवा अपने कथनके साथ उसके कथनका सामंजस्य स्थापित करनेका यहींसे उपक्रम किया है—अगले कई पद्योंमें इसी विषयकी चर्चा कीगई है—फिर उक्त गाथाको श्लेषक कैसे कहा जा सकता है? अस्तु यह तो हुआ अमृतचन्द्राचार्यके द्वारा प्रकृत ग्रन्थके न रचे जाने आदि विषयक सामान्य विचार, अब ग्रन्थके वास्तविक कर्ता और उसके निर्माणसमयसम्बन्धी विशेष विचारको लीजिये ।

ऊपर यह जाहिर किया जा चुका है कि 'लाटीसंहिता' नामका भी एक ग्रंथ है । यह संस्कृत भाषामें श्रावकाचार-विषयका एक सामसर्गात्मक ग्रन्थ है और इसकी पद्यसंख्या १६०० के करीब है । इस ग्रन्थके साथ जब पञ्चाध्यायीकी तुलनात्मक दृष्टिसे आन्तरिक जाँच की जाती है तो यह मालूम होता है कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही विद्वानकी रचना हैं । दोनोंकी कथनशैली, लेखन-प्रणाली अथवा रचना-यद्गति एक जैसी है; ऊहापोहका ढंग, पदविन्यास और साहित्य भी दोनोंका समान है; पञ्चाध्यायीमें जिस प्रकार किञ्च, ननु, अथ, अपि, अर्थात्, अयमर्थः, अयेभावः, एव, नैवं, भैवं, नाहं, न चाशङ्क्यं, चेत्, नो चेत्, यतः, ततः, अत्र, तत्र, तत्रथा, इत्यादि शब्दोंके प्रचुर प्रयोगके साथ विषयका प्रतिपादन किया गया है, उसी तरह वह लाटीसंहितामें भी पाया जाता है । संक्षेपमें, दोनों ग्रन्थ एक ही लेखनी, एक ही टाइप और एक ही टंकसालके जान पड़ते हैं । इसके सिवाय, दोनों ग्रन्थोंमें सैकड़ों पद्य भी प्रायः एक ही पाये जाते हैं और उनका सुल्लासा इस प्रकार है:—

( ङ ) लाटीसंहिताके तीसरे सर्गमें, सम्यग्दृष्टिके स्वरूपका निरूपण करते हुए, 'ननुल्लेख किमेतावान्' इत्यादि पद्य नं० ३४ (मुद्रितमें २७)से 'तद्यथा सुम्बु'स्तादि' इस पद्य नं० ६० (मुद्रितमें ५४) तक जो २७ पद्य दिये है वे वे ही हैं जो पंचाध्यायी टीकाके उत्तरार्धमें नं० ३७ : से ३९९ तक और मूल प्रतिमें नं० ३७४ से ४०१ तक वर्ज हैं। इसी तरह ६१ (मुद्रितमें ५५) वें नम्बरसे १२६ मुद्रितमें ११६ वें नं० तकके ६६ पद्य भी प्रायः वे ही हैं जो सटीक प्रतिमें नं० ४१० से ४७६ तक और मूल प्रतिमें ४१२ से ४७९ तक पाये जाते हैं। हाँ, 'अथानुरागशब्दास्य' नामका पद्य नं० ४३५ ( ४३७ ) पंचाध्यायीमें अधिक है। हो सकता है कि यह लेखकोंसे छूट गया हो, लाटीसंहिताके निर्माण-समय उसकी रचना ही न हुई हो या ध्वन्यकारने उसे लाटीसंहितामें देनेकी जरूरत ही न समझी हो। इनके सिवाय, इसी सर्गमें, नं० १६१ मुद्रितमें १५२ से १८२ मुद्रितमें १०३ तकके २२ पद्य और भी हैं जो पंचाध्यायी ( उत्तरार्ध ) के ७२१ ( ७२५ ) से ७४२ ( ७४६ ) नम्बर तकके पद्योंके साथ एकता रखते हैं।

( ष ) लाटीसंहिताका चौथा सर्ग, जो आशीर्वादके बाद 'ननु मुदर्सि-नस्येत्तत्' पद्यसे प्रारम्भ होकर 'उक्तं प्रभावनांगोऽपि' पद्यपर समाप्त होता है, ३२३ पद्योंके करीबका है। इनमेंसे नीचे लिखे दो पद्योंको छोड़कर शेष सभी पद्य पंचाध्यायीके उत्तरार्धमें नं० ४७७ ( ४८० ) से ७२० ( ७२४ ) और ७४३ ( ७४७ ) से = २१ ( = २५ ) तक प्रायः ज्योंके त्यों पाये जाते हैं—

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २६८ ॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तुरागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २६९ ॥

ये दोनों पद्य 'पुण्यार्थ सिद्धयुगाय' ध्वन्यके पद्य हैं और 'येनांशे-मुदृष्टिः' नामके उस पद्यके बाद 'उक्तं च' रूपमें उद्धृत किये गये।



साथ पंचाध्यायीके कितनेही पद्योंका संशोधन भी हो जाता है, जिनकी अशुद्धियोंको तीन प्रतियों परसे सुधारनेका यत्न करनेपर भी पं० मक्त्त-नलालजी सुधार नहीं सके और इसलिये उन्हें मूठतरूपमेंही उनकी टीका प्रस्तुत करनी पड़ी । इन पद्योंमेंसे कुछ पद्य नमनेके तौरपर लाटीसंहितामें दिये हुए पाठभेदको कोष्ठकमें दिखलाते हुए नीचे दिये जाते हैं—

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।

नात्राणमंशतोप्यत्र कुतस्ताद्विम ( ङीर्म ) हात्मनः ॥ ५३५ ॥

मार्गो ( गं ) मोक्षस्य चारिषं तत्सद्भक्ति ( सदृशक्ति ) पुरःसरम् ।

साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्यसंज्ञकः ॥ ६६७ ॥

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुन्वरपचकः ।

नामतः श्रावकः क्षान्तो ( स्यातो ) नान्यथापि तथा गृही ॥ ७२६ ॥

शेषेभ्यः क्षुत्तिपासादि पीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।

दानेभ्यो दया ( ऽभय ) दानादि दातव्यं कर्णार्णवै ॥ ७३१ ॥

नित्ये नैमित्तिके चैवं ( त्य ) जिनबिम्बमहोत्सवे ।

शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैरतद्विशेषतः ॥ ७३६ ॥

अथातद्धर्मणः पक्षे ( अर्यान्नाधीर्मणः पक्षो ) नावयस्य मनागपि ।

धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षं पोष ( रोष ) णात् ॥ ८१४ ॥

इन पद्यों परसे विज्ञ पाठक सहज ही में पंचाध्यायीके प्रचलित अथवा मुद्रित पाठकी अशुद्धियोंका कुछ अनुभव कर सकते हैं और साथ ही टीकाको देखकर यह भी मालूम कर सकते हैं कि इन अशुद्ध पाठोंकी वजहसे उममें क्या कुछ गड़बड़ी हुई है ।

किसी किसी पद्यका पाठभेद स्वयं ग्रन्थकर्ताका किया हुआभी जान पड़ता है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है:—

उक्तं दिव्यात्रमश्नापि प्रसंगाद् गुरु लक्षणम् ।

शेषं विशेषतो षड्दे ( श्रेयं ) तत्स्वरूपं जिनागमान् ॥ ७१४ ॥

यहां ' षड्दे ' की जगह ' श्रेयं ' पदका प्रयोग लाटीसंहितामें अनुकूल जान पड़ता है, क्योंकि लाटीसंहितामें इसके बाद गुरुका को

विशेष स्वरूप नहीं बतलाया गया जिनके कथनकी ' वश्ये ' पदके द्वारा  
 र्वचाभ्यासीमें प्रतिज्ञा की गई है, और न इस पदमें किसी इद्रयस्य या  
 करस्य दूसरे ग्रन्थका नाम ही लिया है जिनके साथ उस स्वरूप कथनकी  
 प्रतिज्ञा-शृंखलाको जोड़ा जा सकता । ऐसी हालतमें यहाँ प्रत्येक ग्रन्थका  
 भरना पाठ उसके अनुकूल है और उमें ग्रन्थकर्ताकी ही कृति  
 समझना चाहिये ।

यहां नमूनेके तौर पर लाट्रीसंहिताके कुछ ऐसे पद्य भी उचित जानकर  
 उद्धृत किए जाते हैं जो पञ्चाभ्यासीमें नहीं हैं—

ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा ।  
 जैनानां सांख्य सर्वेषामर्थाद्ग्रतिनामपि ॥ १४४ ॥  
 भैयं सति तथा सुर्यगुणस्थानस्य शून्यता ।  
 नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद् गुणे पचमके मता ॥ १४५ ॥

तृतीयतर्गः ।

ननु प्रतप्रतिमायांमेतत्सामागिकं प्रतं ।  
 तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुनः ॥ ४ ॥  
 मर्त्यं किं तु विशेषोऽस्ति प्रसिद्धः परमागमे ।  
 सातिचारं तु तत्रस्यादत्रातीचारवर्जितं ॥ ५ ॥  
 किं च तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनां ।  
 अत्र त्रिकालनियमो गुणेर्मूलगुणादिषु ॥ ६ ॥  
 तत्र हेतुवशात्स्वर्गादि कुर्यात्कुर्यान्न वा क्वचित् ।  
 सातिचारप्रनत्वाद्वा तथापि न प्रनत्तिः ॥ ७ ॥  
 अत्राश्रयं त्रिकालेऽपि कार्यं सामागिकं च यत् ।  
 अन्यथा प्रनत्तिः स्यादतीचारस्य का कमा ॥ ८ ॥  
 अन्यत्रान्येषामिष्यादि यावदेकाद्वन स्थितिः ।  
 प्रनान्यत्र विशिष्यन्ते नाथोर्ध्वानरं क्वचित् ॥ ९ ॥

शोभतेऽतीव संस्कारात्साक्षादाकरजो मणिः ।

संस्कृतानि व्रतान्येष निर्जराहेतवस्तथा ॥ १० ॥

सप्तमसर्ग ।

सारी छाटीसंहिता इसी प्रकारके उदापोद्गात्मक पद्योसे भरी हुई है । यहाँ विस्तारभयसे सिर्फ थोड़े ही पद्य उद्धृत किए गये हैं; इन पद्योंपरसे विज्ञ पाठक छाटी संहिताकी कथनशैली और उसके साहित्य आदिका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये बहुत कुछ समर्थ हो सकते हैं, और पद्याध्यायीके साथ तुलना करनेपर उन्हें यह मालूम हो सकता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही लेखनीसे निकले हुए हैं और उनका टाइप भी एक है ।

पद्याध्यायीके शुरुमें संगलाचरण और ग्रन्थ करनेकी प्रतिशारूपसे जो चार पद्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

पंचाध्यायावयवसं मम कर्तुर्मन्थराजमात्मवशान् ।

अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं म्नुषे महावीरम् ॥ १ ॥

शेषानपि तीर्थकराननन्तमिद्वानह् नमामि समम् ।

धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान्वन्दे ॥ २ ॥

जीयाजैनं शासनमनादिनिधनं सुबन्धमनवशम् ।

यदपि च कुमतारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥

इति बन्धितपद्मगुरुः कृतमद्गलसत्क्रियः स एष पुनः ।

नाम्ना पद्माध्यायीं प्रतिजानीते चिर्दीर्घितं शास्त्रम् ॥४॥

इन पद्योंमें क्रमशः महावीर तीर्थकर, शेष तीर्थकर, अनन्तसिद्ध और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुपदसे विशिष्ट मुनीश्वरोंकी बन्धना करके जैन शासनका जयघोष किया गया है । और फिर अपनी इस बन्धना क्रियाको ' मद्गलसत्क्रिया ' बतलाते हुए ग्रन्थका नामांतेस पूर्वक उसके रचनेकी प्रतिशा की गई है । ये ही सब बातें इन्हीं क्रम तथा आशय-को लिए हुए, शब्दों अथवा विशेषणादि पदोंके कुछ हेर फेर या कर्मी बेशकके साथ छाटीसंहिताके शुरुमें भी पाई जाती हैं । यथा—

विशेष शक्ति नहीं बरताया गया जिसके कारणही ' शरीर ' परके हुए  
 पंचांग्यायीमें प्रतिमा की गई है, और न इस परमें किसी इच्छाएँ के  
 कारण दूसरे इच्छाका नाम ही दिया है जिसके साथ पुन शक्ति के  
 प्रतिमा-शुभ-शक्ति जोड़ा जा सकता है। ऐसी शक्तियों वाली प्रत्येक इच्छा  
 अपना पाठ उसके अनुकूल है और उसे इच्छापूर्णाही ही कृति  
 समझना चाहिये ।

यहाँ नमूनेके तौर पर साठीमंति-तके कृति ऐसे पाठ भी उचित मानकर  
 उद्धृत किए जाते हैं जो पंचांग्यायीमें नहीं हैं:—

ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाग्या तदादिमा ।  
 जैतानां साम्नि सर्वेषामर्थोदप्रतितामपि ॥ १४५ ॥  
 भैवं मति तथा तुर्यगुणम्यानस्य शून्यता ।  
 नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद् गुणे पंगमक्रे मता ॥ १४५ ॥  
 तृतीयमर्गः ।

ननु प्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकं प्रतं ।  
 तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुनः ॥ ४ ॥  
 सत्यं किंतु विशेषोऽस्ति प्रसिद्धः परमागमे ।  
 सातिचारं तु तत्रस्यादत्रातीचारवर्जितं ॥ ५ ॥  
 किं च तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनां ।  
 अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत् ॥ ६ ॥  
 तत्र हेतुवशात्कवापि कुर्यात्कुर्यान्न वा क्वचित् ।  
 सातिचारप्रतत्वाद्वा तथापि न प्रतश्रुतिः ॥ ७ ॥  
 अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यं सामायिकं च यत् ।  
 अन्यथा प्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥ ८ ॥  
 अन्यत्राप्येवमित्यादि यावदेकादश स्थितिः ।  
 प्रतान्येव विशिष्यन्ते नार्थादर्थांतरं क्वचित् ॥ ९ ॥

शोभतेऽतीव संस्कारात्साक्षादाकरजो मणिः ।

मंस्कृतानि घनान्येष निर्जराहेतवस्त्वथा ॥ १० ॥

सप्तमसर्ग ।

सारी हाटीसंहिता इसी प्रकारके उद्गापोहात्मक पद्यसे भरी हुई है । यहाँ विस्तारभयमे सिर्फ थोड़े ही पद्य उद्धृत किए गये हैं; इन पद्योंपरसे विज्ञ पाठक हाटी संहिताकी कथनशैली और उसके साहित्य आदिका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये बहुत कुछ समर्थ हो सकते हैं; और पद्याध्यायीके साथ तुलना करनेपर उन्हें यह मालूम हो सकता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही लेखनीसे निकले हुए हैं और उनका टारप भी एक है ।

पद्याध्यायीके शुरूमें मगलाचरण और ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञारूपसे जो चार पद्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

पंचाध्यायावयवं मम कर्तुर्मन्थराजमात्मवशान् ।

अर्धांलोकनिदान यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥ १ ॥

शेषानपि तीर्थकराननन्तासिद्धानहं नमामि समम् ।

धर्माचार्याध्यापकमाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान्वन्दे ॥ २ ॥

जीयाञ्जनं शासनमनादिनिधनं सुवन्धमनवद्यम् ।

यदपि च कुमतारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥

इति बन्दितापञ्चगुरुः कृतमद्गुणमत्क्रिया स एष पुनः ।

नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥४॥

इन पद्योंमें क्रमशः महावीर तीर्थकर, शेष तीर्थकर, अनन्तासिद्ध और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुपदसे विशिष्ट मुनीश्वरोंकी बन्दना करके जैन शासनका जयघोष किया गया है । और फिर अपनी इस बन्दना क्रियाको 'मद्गुणमत्क्रिया' बतलाते हुए ग्रन्थका नामोद्देश पूर्वक उसके रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है । ये ही सब बातें इसी क्रम तथा आशय-कों लिए हुए, शब्दों अथवा विशेषणादि पदोंके कुछ हेर फेर या कर्मी-वेशिके साथ हाटीसंहिताके शुरूमें भी पाई जाती हैं । यथा—





अत्रान्तरंगहेतुर्येषां भावः कवेर्विगुहतरः ।  
हेतोस्तथापि हेतुः माभ्यो सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥ ५ ॥  
सत्राधिजीवमाश्रयानं विदधाति यथाधुना ।

कविः पूर्वापरायण पर्यालोचविचक्षणः ॥ ८०, १६० ॥  
सक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्मंगतोऽशतः ।  
कविलब्धावकाशास्त विस्तराद्वा करिष्यति ॥ ७७५ ॥

लाटीसंहितामें भी ग्रन्थकार अपनेको 'कवि' नामसे नामाङ्कित करते  
और 'कवि' लिखते हैं । जैसा कि ऊपर उद्धृत किए हुए पद्य न० ६  
न० ७७५ ( यह पद्य लाटीसंहिताके चतुर्थ सर्गमें न० २७० पर दर्ज है )  
और नीचे लिखे पद्योंपरसे प्रकट है.—

....., तत्रस्थितः किल करोति कवि कवित्वं ।

तद्गुणं मयि गुणं जिनशामनं च ॥ १-८६ ॥ सु० ८७ ॥

श्लोकः सूत्रानुसारेण यथाणुग्रतपश्चकं ।  
गुणग्रतग्रयं वक्तुमुत्सहेदधुना कविः ॥ ६-११७ ॥ सु० १०९ ॥

इसी तरह और भी कितने ही स्थानोंपर आपका 'कवि' नामसे उल्लेख  
पाया जाता है, कहीं कहीं अमली नामके साथ कवि-विशेषण जुड़ा हुआ  
भी मिलता है यथा, 'सानन्दमान्ते कविगजमल्ल' ( ५६ )—और इन  
सब उल्लेखोंसे यह जाना जाता है कि लाटीसंहिताके कर्ताकी कवि  
रूपसे बहुत प्रतिष्ठा थी, 'कवि' उनका उपनाम अथवा पदविशेष  
किया करते थे । इसीसे परमाचार्यीमें जो अभी पूरा नहीं हो पाई थी,  
कहेले 'कवि' नामसे ही आपका नामोल्लेख मिलता है । नामकी इस  
सानतासे भी दोनों ग्रन्थ एक ही कविकी दो कृतियाँ मादूम होते हैं ।  
इसमें सन्देह नहीं कि कविराजमल्ल एक बड़े विद्वान् और सत्कवि  
गये हैं । कविके लिये जो यह कहा गया है कि 'बैह नये नये संदर्भ',  
कविनुतनसदृशः ।

नई नई मौलिक रचनाएँ—तय्यार करनेमें समर्थ होना चाहिये' वह बात उनमें जरूर थी और ये दोनों ग्रन्थ उसके ज्वलंत उदाहरण जान पड़ते हैं। इन ग्रन्थोंकी लेखनप्रणाली और कथनशैली अपने ढंगकी एक ही हैं। लाटीसंहिताकी सन्धियोंमें 'स्याद्वादानवद्य-पद्य-गद्य-विद्या-विशारद्-विद्वन्मणि' लिखा है और ये दोनों कृतियाँ उनके इस विशेषणके बहुत कुछ अनुकूल जान पड़ती हैं। लाटीसंहिताको देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि पंचाध्यायी उसके कर्तासे भिन्न किसी और ऊँचे दर्जेके विद्वानकी रचना है। अस्तु।

मैं समझता हूँ, ऊपरके इन सब उल्लेखों प्रमाणों अथवा कथनसमुच्चय परसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि पंचाध्यायी और लाटी-संहिता दोनों एकही विद्वानकी दो विशिष्ट रचनाएँ हैं, जिनमेंसे एक पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी रचना लाटीसंहिता है और उसमें उसके कर्ताका नाम बहुत स्पष्टरूपसे 'कविराजमल्ल' दिया है। इसलिये पंचाध्यायीको भी 'कविराजमल्ल' की कृति समझना चाहिये, और यह बात विलकुल ही सुनिश्चित जान पड़ती है।

लाटीसंहिताको कविराजमल्लने वि० सं० १६४१ में आश्विन शुक्ल दशमी रविवारके दिन बनाकर समाप्त किया है। जैसा कि उसकी प्रशस्तिके निम्नपर्यंसे प्रकट है:—

श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणते सति ।

सहैकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश ॥ २ ॥

तत्राप्यश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते ।

दशम्यां दाशरथेः (श्र) शोभने रविवासरे ॥ ३ ॥

१ एक सन्धि जम्नेके तोर पर इस प्रकार है:—इति श्रग्याद्वादानवद्यपद्य विद्याविशारद्विद्वन्मणिगजमल्लविगचिनायां श्यावकाचारानाम लाटीसंहितायां सान्धुदुःखजकामनमनःमगेजागविद्वक्शनेइमानेन्द्रमण्डलायमानायां कथामुक्त श्रगेन नाम प्रथम. सगं. ।

पंचाध्यायीभी इनी समयके करीबकी-विक्रमकी १७ वीं शताब्दी मध्यकालकी-लिखी हुई है। उसका प्रारम्भ या तो लाटीसंहिताके पहले हो गया था और उसे बीचमें रोड लाटीसंहिता लिखी गई या लाटीसंहिताको लिखनेके बाद ही, सत्सहायको पाकर, कविके उसके रचनेका भाव उत्पन्न हुआ है-अर्थात् यह विचार पैदा हुआ उसे अब इसी टाइप अथवा शैलीका एक ऐसा ग्रन्थराज भी लिखना चाहिये जिसमें पद्याशक्ति और पद्यावश्यकता जैनधर्मका प्रायः सारा रीचद्वार रस दिया जाय। उसीके परिणामस्वरूप पंचाध्यायी प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है और उसे 'ग्रन्थराज' यह उपनामभी ग्रन्थ आदिमें मंगलाचरणमें ही दे दिया गया है। परन्तु पंचाध्यायीका प्रारम्भ पहले माननेकी ह'लतमें यह मानना कुछ आपत्तिजनक जरूर मालूम होता है कि, उसमें उन सभी पर्योकी रचना भी पहलेहीसे चुकी थी जो लाटीसंहितामें भी समानरूपसे पाये जाते हैं और इसलिये उन्हें पंचाध्यायी परसे उठाकर लाटीसंहितामें खरारा गया है। क्योंकि इसके विरुद्ध पंचाध्यायीमें एक पद निम्नप्रकारसे उपलब्ध होता है:—

ननु तद् (मुद्) ईान्म्यैतलक्षणं स्यादशेषतः ।  
किमथास्त्यपरं विपित्तक्षणं तद्वाच नः ॥ ४७७ ॥

यह पद्य लाटीसंहितामें भी वनुधसर्गके शुरूमें कोष्ठकोटोसित पाठ भेदके साथ पाया जाता है। इसमें 'तद्वाच नः' इस वाक्यसंघटके द्वारा यह पूछा गया है तो 'उसे आज हमें बतलाइये'। इस प्रश्नमें 'आज हमें बतलाइये' (षद् अथ नः) इन शब्दोंका पंचाध्यायीके साथ कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता—यही मालूम नहीं होता कि यही 'नः' (हमें) शब्दका वाक्य कौनसा व्यक्ति विशेष है, क्योंकि पंचाध्यायी किसी व्यक्तिविशेषके प्रश्न अथवा प्रार्थना पर नहीं लिखी गई है। शब्दोंके इससे, लाटीसंहितामें उन शब्दोंका सम्बन्ध स्पष्ट है। लाटीसंहिता अथवा लाटीसंहिताके मंगलाचरणमें साहु इशारेके पुर पंचाध्यायी 'पामन' नामके एक धनिक विशाके लिये, उसके प्रश्न तथा प्रार्थना पर लिखी



पद्याध्यायीभी इसी समयके करीबकी-विक्रमकी १७ वीं शताब्दी  
 मध्यकाटकी-जिगी हुई है । उसका प्रारम्भ था तो टाटीसंहिता लिखी गई है और  
 परने हो गया था और उसे बीचमें तो क टाटीसंहिता लिखी गई है और  
 या टाटीसंहिताको लिखनेके बाद ही, सन्सहायको पाकर, कविके हृदयमें  
 उनके रचनका भाव उत्पन्न हुआ है-अर्थात् यह विचार पैदा हुआ कि  
 उसे अब इसी टाटप अथवा टाटीका एक ऐसा ग्रन्थराज भी लिखना  
 चाहिये जिसमें घयाशक्ति और यथावश्यकता जैनधर्मका प्रायः सारा  
 सार सीचकर रस दिया जाय । उसीके परिणामस्वरूप पंचाध्यायीका  
 प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है और उसे 'ग्रन्थराज' यह उपनामभी ग्रन्थके  
 आदिमें मंगलाचरणमें ही दे दिया गया है । परन्तु पंचाध्यायीका प्रारम्भ  
 परने माननेकी ह'टनमें यह मानना कुछ आपत्तिजनक जरूर मालूम  
 होता है कि, उसमें उन सभी पयोकी रचना भी परदेहीसे चुकी थी जो  
 टाटीसंहितामें भी समानरूपसे पाये जाते हैं और इसलिये उन्हें पंचाध्यायी  
 परस उठाकर टाटीसंहितामें रक्ता गया है । क्योंकि इसके विरुद्ध पंचा-  
 ध्यायीमें एक पद निम्नप्रकारसे उपलब्ध होता है—

ननु तद (मुद्) शनैर्यैतलक्षणं स्यादशेषतः ।  
 किमथास्त्यपरं किंचिलक्षणं तद्वदाय नः ॥ ४७७ ॥

यह पद्य टाटीसंहितामें भी अनुसंगिके शुरुमें कोटकोटोत्तित पाठ  
 भेदके साथ पाया जाता है । इसमें 'तद्वदाय नः' इस वाक्यतण्टके द्वारा  
 यह पूछा गया है तो 'उसे आज हमें बतलाइये' । इस प्रश्नमें 'आज  
 हमें बतलाइये' ( तद् अथ नः ) इन शब्दोंका पंचाध्यायीके साथ कोई  
 सम्बन्ध भिन्न नहीं होता-यही मालूम नहीं होता कि यहाँ 'नः' (हमें)  
 शब्दका वाच्य कौनसा ध्यनिक विशेष है; क्योंकि पंचाध्यायी किसी  
 ध्यनिकविशेषके प्रश्न अथवा प्रार्थना पर नहीं लिखी गई है । प्रत्युत  
 नके, टाटीसंहितामें उक्त शब्दोंका सम्बन्ध सुस्पष्ट है । टाटीसंहिता  
 प्रवाचर्वशावतंस मंगलगोत्री साहु इवाके पुत्र संघाधिपति 'फामन'  
 मने एक धनिक विद्वानके लिये, उसके प्रश्न तथा प्रार्थना पर लिखी



पंचाध्यायीभी इनी समयके कबीरकी-दिक्कमी १७ वीं शताब्दीके मध्यकालकी-लिखी हुई है । उसका प्रारम्भ या तो लाटीसंहितासे कुछ पहले हो गया था और उसे बीचमें सेक लाटीसंहिता लिखी गई है और या लाटीसंहिताको लिखनेके बाद ही, सन्सालको पाकर, कविके हृदयमें उसके रचनेका भाव उत्पन्न हुआ है-अर्थात् यह विचार पैदा हुआ कि उसे अब इसी ढाँच अथवा शैलीका एक ऐसा ग्रन्थराज भी लिखना चाहिये जिसमें यथाशक्ति और यथावश्यकता जैनधर्मका प्रायः सारा सार हीचक्र रत्न दिया जाय । उसीके परिणामस्वरूप पंचाध्यायीका प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है और उसे 'ग्रन्थराज' यह उपनामभी ग्रन्थके आदिमें प्रगटाकरणमें ही दे दिया गया है । परन्तु पंचाध्यायीका प्रारम्भ परल माननीही हालमें यह मानना कुछ आपत्तिजनक जरूर मान्य होना है कि, उसमें उन सभी पदोंकी रचना भी परदेहीसे चुकी थी जो लाटीसंहितामें भी सामान्यरूपसे पाये जाते हैं और इसलिये उन्हें पंचाध्यायी परसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्ता गया है । क्योंकि इसके विरुद्ध पंचाध्यायीमें एक पद निम्नप्रकारसे उपलब्ध होता है:-

ननु तह (मुद) शान्म्यैतलक्षणं स्यादशेषतः ।  
किमथास्त्यपरं किंचिल्लक्षणं तद्वदाय नः ॥ ४७७ ॥

यह पद लाटीसंहितामें भी अनुपसर्गिक शुरुमें कौटकोटोत्थित पाठ भेदके साथ पाया जाता है । इसमें 'तद्वदाय न' इस वाक्यतण्टके द्वारा यह पूछा गया है तो 'उसे आज हमें बतलाइये' । इस प्रश्नमें 'आज हमें बतलाइये' ( वद अय नः ) इन शब्दोंका पंचाध्यायीके साथ कोई सम्बन्ध स्थिर नहीं होता-यही मान्य नहीं होता कि यहाँ 'नः' (हमें) शब्दका वाच्य कौनसा व्यक्ति विशेष है; क्योंकि पंचाध्यायी किसी व्यक्तिविशेषके प्रश्न अथवा प्रार्थना पर नहीं लिखी गई है । प्रायुत इसके, लाटीसंहितामें उक्त शब्दोंका सम्बन्ध सुस्पष्ट है । लाटीसंहिता अष्टाशतशाकतसं प्रगल्भोत्री साहु हृदाके पुत्र संघाधिपति 'फामन' नामके एक धर्मिक विद्वान्के लिये, उसके प्रश्न तथा प्रार्थना पर लिखी



नई नई मौलिक रचनाएँ—तय्यार करनेमें समर्थ होना चाहिये' वह बात उनमें जरूर थी और ये दोनों ग्रन्थ उसके ज्वलंत उदाहरण जान पड़ते हैं । इन ग्रन्थोंकी लेखनप्रणाली और कथनशैली अपने ढंगकी एक ही है । लाटीसंहिताकी सन्धियोंमें राजमहलको 'स्याद्वादानवय-पय-गय-विद्या-विशारद-विद्वन्मणि' लिखा है और ये दोनों कृतियाँ उनके इस विशेषणके बहुत कुछ अनुकूल जान पड़ती हैं । लाटीसंहिताको देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि पंचाध्यायी उसके कर्तासे भिन्न किसी और ऊँचे दर्जेके विद्वानकी रचना है । अस्तु ।

मैं समझता हूँ, ऊपरके इन सब उल्लेखों प्रमाणों अथवा कथनसमुच्चय परसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि पंचाध्यायी और लाटी-संहिता दोनों एकही विद्वानकी दो विशिष्ट रचनाएँ हैं, जिनमेंसे एक पूरी और दूसरी अधूरी है । पूरी रचना लाटीसंहिता है और उसमें उसके कर्ताका नाम बहुत स्पष्टरूपसे 'कविराजमहल' दिया है । इसलिये पंचाध्यायीको भी 'कविराजमहल' की कृति समझना चाहिये, और यह बात बिलकुल ही सुनिश्चित जान पड़ती है ।

लाटीसंहिताको कविराजमहलने वि० सं० १६५१ में आश्विन शुक्र दशमी रविवारके दिन बनाकर समाप्त किया है । जैसा कि उसकी प्रशस्तिके निम्नपर्याप्त प्रकट है—

श्रीनृपनिबिक्कमादित्यराग्ये परिणते सति ।

सहैकषत्वारिंशद्विरब्दानां शतपोडश ॥ २ ॥

तत्राप्यश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते ।

दशम्यां दाशरथे. (श्र) शोभने रथियासरे ॥ ३ ॥

२ एक मन्थि नमूनटे तोर पर इम प्रकार है:-इति श्रीयाद्वादानवयपय विद्याविशारदविद्वन्मणिराजमहलविश्रचनायां श्यादवादानवयपयगय विद्या विशारद विद्वन्मणिनाम लाटीसंहितायां स्याद्वादानवयपयगयविद्याविशारदविद्वन्मणिनाम राजमहलकृत्यापमानायां कथमसुख वर्णन नाम प्रथमः सर्गः ।

टाटीसंहिताके बाद प्रारंभ हुआ है । परन्तु पञ्चाध्यायीका प्रारंभ पहले हुआ है ( १ ) । इसमें संदेह नहीं कि वह टाटीसंहिताके बाद प्रकाशमें आई है और उस वक जनता के सामने स्वीकृत हुई है जब कि कविमहोदयकी इच्छाकेप्रायः सामान ही चुकी थी । यही वजह है कि उसमें किसी मन्थि, अत्याय, प्रकरणादिक या संघकर्ताके नामादिक की कोई योजना नहीं होसकी और वह निर्माणाधीन स्थितिमें ही जनताको उपलब्ध हुई है । मान्यम नहीं संघकर्ता मगोदय इसमें और किन किन विषयोंका किस हद तक समावेश करना चाहते थे और उन्होंने अपने इस संवत्सरेके बीच महाविभाग-अत्यायों-के क्या नाम सोचे-थे । निसंदेह उनमें संवत्सरेका पूरा न हो सकना समाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है ।

कवि राजमहोदयने टाटीसंहिताकी रचना 'वेराट' नगरके जिनालयमें वेराट की है । यह वेराट नगर वही जान पड़ता है जिसे 'वेराट' भी कहने में और जो जयपुरसे करीब ५० मीलके फासले पर है । किसी समय यह विराट अथवा मत्स्यदेशकी राजधानी थी और यहीं पर पांडवोंका गुप्त वेगमें रहना कहा जाता है । 'भीमकी दूंगरी' आदि कुछ स्थानोंका लोग अब भी उसी वक के बतलाते हैं । टाटीसंहितामें कविन इस नगरकी मूलकल्पमें प्रशंसा करते हुए, अपने समयका किनना ही वर्णन दिया है और उससे मान्यम होता है कि यह नगर उस समय बड़ा ही संप्रुद्धशाली था । यहाँ कोई दरिद्री नजर नहीं आता था, प्रजामें परम्पर अमूया अथवा ईर्ष्यादिसे वशावर्ती होकर उद्वेगवणका भाव नहीं था, वह परचक्रके मयमे रहित थी, सबदोग सुशाहाल तथा धर्मात्मा थे, चोरी बगैरके अपराध नहीं होते थे और इससे नगरके लोग ईदका नाम भी नहीं जानते थे । अकबर बादशाहका उस समय राज्य

१ टाटीसंहितामें भी पांडवोंके इन परमाणव चिन्नोंके अस्तित्वको सूचित किया है । यथा—  
 ...वीर्यादि धृतेनुच पांडवानामपार्थि चारवर्षपरंपरीका ।  
 या का-अद्वैतोपय बदावर्त्तितान्दुर्ष विमुं वन्ति महाबला अपि ॥ ४४ ॥

गई है, जिसका स्पष्ट उल्लेख संहिताके 'कथामुखवर्णन' नामके प्रथम सर्गमें पाया जाता है । फामनको संहितामें जगह जगह आशीर्वाद भी दिया गया है । उक्त पदसे ठीक पहले भी, चतुर्थसर्गका प्रारम्भ करते हुए आशीर्वादका एक पद पाया जाता है और वह इस प्रकार है:—

इदमिदं तव भो वनिजांपते भवतु भावितमान सुदर्शनं ।

विदितफामननाममहामते रसिकधर्मकथामु यथार्थतः ॥ १ ॥

इससे साफ जाना जाता है कि इस पद्यमें जिस व्यक्ति विशेषके सम्बोधन करके आशीर्वाद दिया गया है वही अगले पदका प्रभकर्ता और उसमें प्रयुक्त हुए 'नः' पदका वाच्य है । लाटी संहितामें प्रभकर्ता फामनके लिये 'नः' पदका प्रयोग किया गया है, यह बात नीचे लिये पद्यसे और भी स्पष्ट हो जाती है:—

सामान्यादवगम्य धर्म फलितं ज्ञातुं विशेषादपि ।

भक्त्या यस्तमपीष्टुच्छद् वृपरुचिर्नाम्नाधुना फामनः ॥

धर्मत्वं किमथास्य हेतुरथ किं साक्षात्फलं तत्त्वतः ।

स्वामित्त्वं किमथेति सूरिरवदत्सर्वं प्रणत्रः कविः॥७७॥मु०७८॥

ऐसी हालतमें नहीं कहा जा सकता कि उक्त पद्य नं० ५७७ पंचाध्यायीसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्ता गया है बल्कि लाटीसंहितासे उठाकर वह पंचाध्यायीमें रक्ता हुआ जानपड़ता है । साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उक्त पद्यके उस वाक्य-खण्डमें समुचित परिवर्तनका होना या तो छूट गया और या ग्रंथके अभी निर्माणाधीन होनेके कारण उस वक्त उसकी जरूरत ही नहीं समझी गई और इसलिये पंचाध्यायी का प्रारंभ यदि पहले हुआ हो तो यह कहना चाहिये कि उसकी रचना प्रायः उसी हद तक हो पाई थी जहाँसे आगे लाटीसंहितामें पाये जाने वाले समान पद्यका उसमें प्रारंभ होता है । अन्यथा, लाटीसंहिताके कथनसंबंधादिको देखते हुए, यह मानना ही ज्यादा अच्छा और अधिक संभावित जान पड़ता है कि पंचाध्यायीका लिखा जाना

लाटीसंहिताके बाद प्रारंभ हुआ है । परंतु पचासव्याधीका प्रारंभ पहले हुआ हो या पीछे, इसमें संदेह नहीं कि वह लाटीसंहिताके बाद प्रकाशमें आई है और उस वक्त जनता के सामने रखी गई है जब कि कनिमहोदयकी इच्छोक्यात्रा प्रायः समाप्त हो चुकी थी । यही वजह है कि उसमें किसी सन्धि, अत्याय, प्रहरणादिक या ग्रंथकर्ताके नामादिक की कोई योजना नहीं होसकी और वह निर्माणाधीन स्थितिमें ही जनताको उपलब्ध हुई है । मान्य नहीं ग्रंथकर्ता महोदय इसमें और किन किन विषयोंका किस हद तक समावेश करना चाहते थे और उन्होंने अपने इस ग्रंथगजके पौंच महाविभागों-अत्यायों-के क्या नाम सोचे-थे । निःसंदेह ऐसे ग्रंथालंका पूरा न हो सकना समाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है ।

कवि राजमहर्षिने लाटीसंहिताकी रचना 'बैराट' नगरके जिनालयमें बैठकर की है । यह बैराट नगर वही जान पड़ता है जिसे 'बैराट' भी कहते हैं और जो जयपुरसे करीब ५० मीलके फासले पर है, किसी समय यह विराट अथवा मलयदेशकी राजधानी थी और यहीं पर पांडवोंका गुप्त बेशमें रहना कहा जाता है । 'भीमकी दूंगरी' आदि कुछ स्थानोंको लोग अब भी उसी वक्त के बतलाते हैं । लाटीसंहितामें कविने इस नगरकी मुककण्ठसे प्रशंसा करते हुए, अपने समयका कितना ही वर्णन दिया है और उससे मान्य होता है कि यह नगर उस समय बड़ा ही समृद्धशाली था । यहाँ कोई दरिद्री नजर नहीं आता था, प्रजामें परस्पर अमूया अथवा ईर्ष्यादिपादिके बन्धवर्ती होकर विद्वान्वेषणका माय नहीं था, वह परचक्रके भयसे रहित थी, सबरोग सुसहल तथा धर्मरमा थे, चोरी बगैरके अपराध नहीं होने थे और इससे नगरके लोग दंडका नाम भी नहीं जानते थे । अकबर बादशाहका उस समय राज्य

१ लाटीसंहितामें भी पांडवोंके इन परवरागत चिन्होंके अस्तित्वको सूचित किया है । यथा—

...कीडादि शृंगेषु च पांडवानामपि चारुचरपरवरागाः ।

या वा-अद्वैतक्य बलावद्विनादर्थं विमुचन्ति महाबला अपि ॥ ४० ॥

था और वही इस नगरका स्वामी तथा भोक्ता था। नगर कोटसार्हसे युक्त और उसकी पर्वतमालामें कितनी ही तौबे की खानें थीं जिनसे उस वक्त तौबा निकाला जाता था और उसे गलागलूकर निकालनेका एक बड़ा भारी कारखाना भी कोटके बाहर, पासमें ही, दक्षिण दिशाकी ओर स्थित था। नगरमें ऊँचे स्थान पर एक सुंदर प्रोचुंग जिनालय-द्विगंबर जैन मंदिर-था, जिसमें यज्ञस्थल और समृद्ध कोष्ठों (कोठों) को लिये हुए चार शालाएँ थीं, उनके मध्यमें वेदी और वेदीके ऊपर उत्तम शिखर था। कविने इस जिनालयको बैराट नगरके सिरका मुकुट बतलाया है। साथही, यह सूचित किया है कि वह नाना प्रकारकी रंगविरंगी चित्रावलीसे सुशोभित था और उसमें निर्ग्रन्थ जैन साधुभी रहते थे। इसी मंदिरमें बैठकर कविने लाटीसंहिताकी रचनाकी है। संभव है कि पंचाध्यायी भी यहीं लिखी गई हो। यह मंदिर साधु दूद्राके ज्येष्ठपुत्र और फामनके बड़े भाई 'न्योता' ने निर्माण कराया था; जैसा कि संहिताके निम्न पद्यसे प्रगट है:-

तत्राद्यस्य वरो मुतो वरगुणो न्योताहसंधाधिपो ।

येनैतज्जिनमंदिरं स्फुटमिह प्रोचुगमत्यद्भुतं ।

बैराटे नगरे निधाय विधिवद्यत्पूजाश्च यज्ञयः कृताः ।

अत्रामुत्र मुखप्रदः स्वयशसः स्तंभः समारोपितः ॥ ७२ ॥

आजकाल बैराट ग्राममें पुरातन धस्तु-शोधकोंके देरने योग्य जो तीन चीजें पाई जाती हैं उनमें पार्थनायका मन्दिरभी एक सास चीज है और वह संभवतः यही मन्दिर मान्य होता है जिसका कविने लाटीसंहितामें

१ अक्षरके पिता हुआ है और पितामह 'बापर' का भी कविने उल्लेख किया है और इन सब को 'गत्ता' जानिके बतलाया है।

२ बैराटग्राम और उसके आजकालका प्रदेश आज भी धानके मैदाने आच्छादित है, ऐसा डा० भंडारकरने अपनी एक लिपिमें प्रकट किया है, जिसका नाम भण्डारकर नेत्रं देना क्या है।



प्रतिष्ठित हुए थे । क्षेमदीर्घि भट्टारक उस समय मौजूद भी थे और उनके उपदेश तथा आदेशोंमें उनके जिनालयमें कितनेही चित्रोंकी रचना हुई थी । वैराटनगरमें उस समय भट्टारक हेमचन्द्रकी प्रसिद्ध आम्नायकी पालनेवाले ' तालू ' नामके एक विद्वान्भी थे, जिनके अनुग्रहमें कामनको धर्मका स्वरूप जानने आदिमें कितनीही सहायता मिली थी । परन्तु उसका वह सब जानना उस वक्त तक प्रायः सामान्य ही था जब तक कि कविराजमल्ल वहां पहुंचे और उनसे धर्मका विशेष स्वरूपादि पूछा जाकर लाटीसंहिताकी रचना करवाई गई ।

इस तरह पर कविराजमल्लने वैराट नगर, अकबर बादशाह, काश्याधी भट्टारक वंश, कामन कुटुम्ब, स्वयं कामन और वैराट जिनालयका कितनाही गुणागान तथा वस्तान करते हुए लाटीसंहिताके रचना सम्बन्धको व्यक्त किया है । परन्तु खेद है कि इतना लम्बा लिखने परभी आपने अपने विषयका कोई खास परिचय नहीं दिया—यह नहीं बतलाया कि आप कहाँके रहनेवाले थे, किस हेतुमें वैराट नगर गये थे, कौनसे वंश, जाति, गोत्र अथवा कुलमें उत्पन्न हुए थे, आपके माता पिता तथा गुरुका क्या नाम था और आप उस समय किस पदमें स्थित थे । लाटीसंहितासे—  
अ यात्मकमलमार्तण्डसेभी—इन सब बातोंका कोई पता नहीं चलता । हाँ, लाटीसंहिताकी प्रशस्तियोंमें एक पद्य निम्न प्रकारसे जरूर पाया जाता है:—

एतेषामस्मिन् मध्ये गृह्युषरुचिमान् कामनः संघनाथ-  
स्तेनाञ्च कारितेय सदनसमुचिता संहिता नामलाटी ॥

१ कावे राजमल्ल वैराट नगरके निवासी नहीं थे बल्कि स्वयंही किसी अज्ञान कारण वरा वंश पदच गये थे, यह बात नीचे लिखे पद्यसे प्रकट है, जो संहितामें कामनका वर्णन करते हुए दिया गया है—

येनान्त्वग्निना नयानांविधिना सपाधिनाथेनयद्—

यमगामयशोभय । नजवपुः कर्तुं चिगर्दीप्ति ॥

व्यस्ये कन्ववत्त रुतामिद् लव वाचना मन्वाविम ।

वैराटे मयमागत शुभवशादुर्वाशमहाह्वय ॥ ७५ ॥





१६६७ में 'मन्नामर' स्तोत्रकी संस्कृत टीका लिखी है, और दूसरे पाण्डे राममल्ल, जिन्होंने समयसारकी वह बालबोध भाषा टीका लिखी है जिसका कविवर बनारसीदासजीने अपने समयसार नाटकमें उल्लेख किया है । ये लोग द्वापरीसंहिताके कर्ता कविराजमल्लसे भिन्न थे । अतः कविराजमल्लके ग्रन्थोंकी रोज करनेवाले विद्वानोंको इस विषयका ध्यान रखना चाहिये ।”





धृवीतरागाय नमः ।

श्रीस्याद्वादानवद्यपद्यगद्यविद्याविद्य...

राजमल्लविरचिता

# लाटीसंहिता ।

प्रथमः सर्गः ।

ॐ

ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थंकरं महार्षीरम् ।

यैर्ष्वेति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि ॥ १ ॥

नमामि शेषानपि तीर्थनायका-

ननन्तयोधादिचतुष्टयान्मनः ।

स्मृतं यदीयं किल नाम भेषजं

भवेद्धि विघ्नौपगदोपशान्तये ॥ २ ॥

प्रदुष्टकर्माष्टकविप्रमुक्तकां-

स्तदत्यये चाष्टगुणान्वितानिह ।

समाश्रये सिद्धगणानपि स्फुटं

सिद्धेः पथस्तत्पदमिच्छतां नृणाम् ॥ ३ ॥

१६६७ में 'मन्नामर' स्तोत्रकी संस्कृत टीका लिखी है, और दूसरे पाण्डे राघमल्ल, जिन्होंने समयसारकी वह बालबोध भाषा टीका लिखी है जिसका कविवर बनारसीदासजीने अपने समयसार नाटकमें उल्लेख किया है । ये लोग लाटीसंहिताके कर्ता कविराजमल्लसे भिन्न थे । अतः कविराजमल्लके ग्रन्थोंकी सोज करनेवाले विद्वानोंको इस विषयका ध्यान रखना चाहिये ।”





श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीस्याद्वादानवद्यपद्यगद्यविद्याविशारदा ... ..

राजमञ्जविरचिता

# लाटीसंहिता ।

प्रथमः सर्गः ।



ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थकरं महाधीरम् ।

येषींति विश्वमशेषं व्यदीपि नश्रत्रमेकमिव नभसि ॥ १ ॥

नमामि शेषानपि तीर्थनायका-

ननन्तयोधादिचतुष्टयात्मनः ।

स्मृतं यदीयं किल नाम भेषजं

भवेद्धि त्रिप्रौषगदोपशान्तये ॥ २ ॥

प्रदुष्टकर्माष्टकधिप्रमुक्तकां-

स्तदत्येये षाष्टगुणान्वितानिह ।

समाश्रये सिद्धगणानपि स्फुटं

सिद्धेः पथस्तत्पदमिच्छतां नृणाम् ॥ ३ ॥

१ यस्य महाधीरस्य । २ ज्ञाने । ३ नरो ।

दृष्टात्मनः प्रतिनिधि किल शङ्कितार्सी  
द्रक्तेक्षणा क्षणममर्षधिया सपत्न्याः ॥ २९ ॥

बभुः सरांसीव भुषो यदन्तरे  
गृहाङ्गभागेषु मणित्विषां चयाः ।  
वराङ्गनाः संवरिताम्यराः क्षणं  
ययुस्त्रशान्तास्तरणानुराः पुनः ॥ ३० ॥

यत्रात्र कान्ता रतयेश्मनीह  
नियेशितादर्शशताश्मभितौ ।  
याला प्रतिच्छायमवेक्ष्य रूपं  
वृथाऽकरोन्मानमनल्पसंभ्रमात् ॥ ३१ ॥

विचित्रचित्राणि यदीयसद्गमु  
व्यलीलिस्रत्कर्मसु सूत्रधारः ।  
नूनं विलोकयैतदकारि मद्भिधिः  
जगत्यरं चात्मकृतार्थतां गतः ॥ ३२ ॥

यदङ्गनामङ्गलगानकोटिभिः  
प्लुते मुदातोशंरवैरिहायैसि ।  
विधूपिताशामुखधूपधूपकै  
रिहानिशं राति शिरसी ग्म येश्मसु ॥ ३३ ॥

विभन्ते नगराण्यनन्तगणितान्यासागराणांसि वै  
सत्रापि प्रतिपत्तनं युषतयस्तारुण्यतोयोर्मयः ।  
किन्त्वप्रत्यवराङ्गनापरिलसद्दृष्टकोणलोलायली  
वाणाम्मैर्गनुनेग्म दुर्गमगुलं वैराटकं मन्मथः ॥ ३४ ॥

आसीदयत्नादपि जागरूको  
जगद्भिर्गोपुः कुगुमायुधध ।  
लोलारणन्पुपुरमौर्यनादै  
निशाहि वैराटपुराङ्गनानाम् ॥ ३५ ॥

१ प्रतिविम्बम् । २ वादिश्राद्धेः । ३ आकृतो ।

यदीयहर्म्यापनिषद्पद्धती  
 दुर्बूलरजामरणाद्यलङ्घिताः ।  
 बधूरुपेत्येन्द्रधनुःशताकृति-  
 मगादकालेऽपि विराटपत्तनम् ॥ ३६ ॥  
 विराटर्वाधीषु नवोदयोपितां  
 गमागमाभ्यासवदानुसारिभिः ।  
 तदाननामोदमदालिनिःस्वनै  
 रयं मधु कोऽप्यपर. सदावनः ॥ ३७ ॥  
 घनापनाभ्रेपजगज्जनौषै-  
 वैराटहृष्टाध्वमु पर्यटङ्किः ।  
 गते प्रचारोपि च दुर्गमोऽभू-  
 द्वारांनिधे पार इषोर्मिजालैः ॥ ३८ ॥  
 अनेकदेशीयजनैरनेकै  
 श्रितः सरिङ्किः सरितांपतिर्यथा ।  
 तदागमिष्यन्निम्बिलोपमेयतां  
 यदा स सिन्धुर्मधुरोऽभविष्यन् ॥ ३९ ॥  
 वेदाः प्रमाणं हि पठङ्किरुध्वै  
 र्विप्रैरनूनैरिह सम्भृतोऽमौ ।  
 शुष्ठाम्यरांगध्व चतुर्भिराम्यै  
 वैराटनाम्नावततार धाता ॥ ४० ॥  
 उर्वी यदन्ते विपुला स्वसीमः  
 सत्यारुहा सप्रसवेव योषित् ।  
 धान्यानि सूते विविधान्यजस्र  
 रत्नानि यद्वा मुसुतोपमानि ॥ ४१ ॥  
 साद्राणि यत्रोपवनानि नित्यं  
 नग्राणि भूयो मरुतेरितानि ।

१ शब्दः । २ मांगु । ३ उर्वी इति पृथ्वी । यथा योषित् सप्रसवा तथैव उर्वी सत्यप्रसवा ।

वाचालितानीय पिकस्वनायैः

सप्रस्रयाणीव हि पार्षदानि ॥ ४२ ॥

यस्यान्तिके कूपतडागवाप्यः

सुधावलिमोन्वडरुण्डदेशाः ।

परीत्य पूर्णं प्रतिविम्बमिन्दोः

स्थिताःविरजुर्नभसीव ताराः ॥ ४३ ॥

सरस्सु वापीषु कुशेशयानां

कचित्सहस्राणि शतानि यत्र ।

वैराटसम्राज्यमुखेन्दुशोभां

दृष्टुं धरित्र्याः धृतलोचनानि ॥ ४४ ॥

लोलोभ्मयो यत्र जलाशयेषु

क्षणं पतित्वाथ समुत्पतन्ति ।

मन्ये मुखं वीक्ष्य विराटराज्ञः

स्खलन्त्यनङ्गादवलाः पदे पदे ॥ ४५ ॥

चापीकूपतडागचत्वरमठक्रांडाद्रिवात्थ्यादिषु

भामिन्यो रमणैः सहोत्सुकतयोत्रेकाद्रमन्ते गृहः

तन्मन्येऽमरदम्पतीशतमिदंस्वर्गात्समुत्तीर्य यत्

दृष्ट्वाश्चर्यपरंपरां मुदमगाद्वैराटपार्श्वे स्थितम् ॥ ४६ ॥

गमागमाभ्यामदृतां जनानां

श्रेणी चतुर्दिक्षु चतुर्मुखेभ्यः ।

अत्राकरिष्यदलमेव सुरापगायाः

पूरेण सा चेदभविष्यदेका ॥ ४७ ॥

यंतो बहिर्भागधरासु संस्थिताः

कृषीवलाः माभिकबन्धुयोपितः ।

१ पर्वदि सभायां योग्यानि पार्षदानि समापवर्तानि सेवक

२ वमन्नतिलकाशदोऽयमुपजानिमयं आपानेन । ४ वैराटनगर

मनाग्मनागन्तरमाश्रितांश्रमाः

दधुर्दिवाप्रामदातोपमेयताम् ॥ ४८ ॥

श्रीहाट्टिशृङ्गेषु च पाण्डवाना

मद्यापि चाश्रयपरंपरांक्षा ।

यान् काश्चिदालोक्य बलाबलिता

दृष्यं विमुञ्चन्ति महाबला अपि ॥ ४९ ॥

जले जने नम्रमहानियोजनं

घनुर्भृता ज्या निहतिर्न सम्पदाम् ।

रणे यतौ चापगुणे न संग्रहो

विशालता यत्र न सा विशालता ॥ ५० ॥

दण्डोस्ति छत्रे न किल प्रजायां

बन्धोऽस्ति हारं न जने कचिद् ।

गन्धापहो गन्धवहोस्ति तस्करो

न तस्कर कोपि परार्थसद्महे ॥ ५१ ॥

नवोदबध्वा नवसङ्गमे भयं

न जातु भीतिः परचक्रिणो रणे ।

यन्नापहारो रतकर्मणि भ्रुवं

यन्नापहारोम्यपरो न कश्चिन् ॥ ५२ ॥

छिद्रमहो मौक्तिकदामगुम्फे

न मूययान्योन्यजनेषु कश्चिन् ।

दूने ध्वनिमारय मारयेति

न क्षालगोपालमुग्घेषु यत्र ॥ ५३ ॥

साम्बलमुष्पावितिगण्डनं वा

भोगोपभोगे न च तत्कदाचिन् ।

१ 'ह' पुस्तके 'माश्रिताः श्रमा' इति पाठः । २ 'अ' पुस्तके 'जा'  
इति पाठः ।



क्षतं नखाङ्कैर्वरयोपिदङ्गे

सौध्यावलीसंहनने न यत्र ॥ ५४ ॥

रागोऽधरे यत्र नितम्बिनीनां

नान्यश्चदाराधनवञ्चनेषु ।

नेत्रद्वयो रञ्जनमङ्गनानां

पापाञ्जनं नैव जनेषु किञ्चिन् ॥ ५५ ॥

पयोजनाले परमस्ति कण्टको

न कण्टकः कोऽपि मिथः प्रजायाम् ।

नूनं सरोगो न जनोऽत्र कश्चित्

परं सरोगो यदि राजहंसः ॥ ५६ ॥

दरिद्रता दातृजने न यत्र

परं प्रतिग्राहिणि सास्ति पात्रे ।

नान्तस्तदाश्चर्यपरंपराणां

मापूर्यतां चेत्कविधर्मशक्तिः ॥ ५७ ॥

इत्याद्यनेकैर्महिमोपमानै

वैराटनाम्ना नगरं विलोक्य ।

स्तोतुं मनागात्मतया प्रवृत्तः

सानंदमास्ते कविराजमहः ॥ ५८ ॥

आसीदुग्रसमप्रवंशविदिता या स्वर्धुनीवामला

नानाभूषतिरत्नभूरिष परा जातिश्च गत्ताभिधा ।

तस्यां वायरपातिसाहिरभवन्निर्जित्यशशून् थला-

दिह्लोमण्डलमण्डितात्मयशसा पूर्णप्रतापानलः ॥ ५९ ॥

तत्पुत्रः समजीजनन्निजकुले व्योम्नीष थण्डांशुमान्

दोर्दण्डैरिष खंहनोद्भटमना नाम्ना हुमाहुं नृपः ।

दुर्वारो विलसत्प्रतापमहिमा चैकांतपात्राङ्कितो

विख्यातो भुवि यः समुद्रपरिखापर्यंतभूमोत्थरः ॥ ६० ॥

तत्पुत्रोऽजनि सार्वभौमसदृशः प्रोद्यत्प्रतापानल-  
 ज्वालाजालमताहिकाभिरभितः प्रज्वालितारिप्रजः ।  
 श्रीमत्साहिशिरोमणिस्त्वक्चरो निःशेषदोषाधिपैः  
 नानारत्नकिरीटकोटिघटितः सृग्मि भितांद्भिद्वयः ॥ ६१ ॥  
 श्रीमद्द्विहीरपिण्डोपमितमितनभः पाण्डुरायण्डकीर्त्वा  
 कृष्टं ब्रह्माण्डकाण्डं निजभुजयशसा मण्डपाङ्गुलोऽस्मिन् ।  
 येनामौ पातिसाहिः प्रतपदक्वचप्रख्यविरुयातकीर्ति-  
 र्जयाद्भोक्ताय नाथः प्रभुरिति नगरस्यास्य वैराटनाम्रः ॥ ६२ ॥  
 जैनो धर्मोन्वयो जगति विजयतेऽद्यापि सन्तानवर्ती  
 साक्षाद्गैगम्बरास्ते यतय इह यथा-जातरूपाङ्गुलक्षाः ।  
 तस्मै तेभ्यां नमोस्तु त्रिसमयनियतं प्रोक्षमद्यत्प्रसादा-  
 दवागावहंमानं प्रतिपविरहितो वर्तते मोक्षमार्गः ॥ ६३ ॥  
 श्रीमति काष्ठासंघे माधुरगच्छेऽथ पुष्करे च गणे ।  
 लोहाचार्यप्रभृतौ समन्वये वर्तमाने च ॥ ६४ ॥  
 आसीत् सूरिकुमारसेनविदितं पट्टस्थभट्टारक-  
 म्याद्वादैरनवद्यवादनखरैर्वादीभक्तुम्भेभिमित् ।  
 येनेदं युगयोगिभिः परिभृतं सम्यग्दृगादित्रयाः  
 नानारत्नचितं वृषप्रवहणं निन्द्येऽद्य पारंपरम् ॥ ६५ ॥  
 तत्पट्टेऽजनि हेमचन्द्रगणभृद्भट्टारकोर्घोपति  
 काष्ठासङ्घनमोङ्गणे दिनमणिर्मिथ्यान्धकारारिजित् ।  
 यन्नामस्मृतिमात्रतोन्वगणिनो विच्छायतामागताः  
 खद्योता इव बाधवाप्युदुगणा भान्तीव भान्द्यतुरः ॥ ६६ ॥  
 तत्पट्टेऽभवदहंतामवर्यवः श्रीपद्मनन्दी गर्णा  
 त्रैवेद्या जिन धर्मकर्मठमनाः प्रायः सतामप्रणा ।  
 भव्यात्मप्रतिबोधनोद्भूतमतिर्भट्टारको वाक्पटु-  
 र्यस्याद्यापि यशः शशाङ्कविशदं जागर्ति भूमण्डले ॥ ६७ ॥

तत्पट्टे परमाख्यया मुनियश-कीर्तिश्च भट्टारको  
 नैर्मध्यपदमार्हतं श्रुतबलादादाय निःशेषतः ।  
 सर्पिर्दुग्धदधीक्षुतैलमखिलं पञ्चापि यावद्रमान्  
 न्यक्त्वा जन्ममयं तदुपमकरोन् कर्मक्षयार्थं तपः ॥ ६८ ॥

तत्पट्टेऽस्त्यधुना प्रतापनिलयः श्रीभ्रमकीर्तिमुनिः  
 हेयादेयविचारचारुचतुरो भट्टारकोऽगांशुमान् ।  
 यस्यप्रोपधवारणादिममये पादोद्विन्दूत्करै-  
 जांतान्येष शिरांसि धौतकलुषाण्याशाम्यराणां नृणाम् ॥ ६९ ॥

तेषां तदाज्ञायपरंपराया  
 मामीत्पुरो दौकनिनाम धेयः ।  
 तद्गामिनः केषिदुपामकाः स्युः  
 गुरेन्द्रमामप्युपमीयमानः ॥ ७० ॥

उपाधौतकवंगशंशितपदप्रोद्भूतजन्माधमः  
 धामन्मङ्गलगोत्रलाञ्छनतयो दधौ. मुलकयो भुवि ।  
 धामीः शिवनिजापतिर्दृष्टमतिभाऊ स्वर्षसे रविः  
 मायु माधुरितीह लोकविदितो धर्मकतानो धर्मा ॥ ७१ ॥

तस्यामग्निश्च मूनय. क्रममुषो वेदैरिवोत्प्रेक्षिताः—  
 दूदाण उकरोथ नाम जगर्मा तुर्यस्त्रिलोकाह्वयः ।  
 जालाकन्दरगोरिषान्मजनतावगस्य मंपोषकाः  
 जन्तारोऽपि निजान्धयोऽप्यदयशोधाप्रः गुरभा इव ॥ ७२ ॥

मत्राण्य मुतो बरो बरगुणो म्याताह्वयपापितो  
 येनैतजिनमन्दिर शृटमिह प्रोत्तुङ्गमन्दकृतम् ।  
 वैराटे नगरे निजाय विरिषन् पूजाय बह्व्यः कृत-  
 यत्रामुव मुनयश्च स्वयजने भग्भः सामारोपिनः ॥ ७३ ॥

धीमन्कृतिरिति प्रतापनपनी भोन्ता द्वितीपोत्तरो  
 दृष्टन्तारिः कृष्णान्ता इतिरिः पलाय बजायिनः ।

पार्थारुयायितविक्रम स्वशरणायायातधात्रीमुजां  
 वैराटीयमहत्तरेष्वपि महत्सूत्रायितं यद्वचः ॥ ७४ ॥  
 उक्तभ्रातृयुगावरोपि जैननोपधीणहंसोः क्रमान्  
 सर्वैरेव गुणैर्वरस्तदुभयप्रोक्तोक्तिस्तंसूचितः ।  
 अन्यैः कैश्चिदपि प्रकर्षकरणैर्लब्धावकाशो गुणै-  
 र्नाम्ना 'कामन' साम्यधर्मनिरतो जीयादुपज्ञामणी ॥ ७५ ॥  
 येनानन्तरिताभिधानविधिना सद्वाधिनाथेन य-  
 च्छर्मा रामयशोमयं निजवपुः कर्तुं चिरादीरिस्तम् ।  
 तन्मन्ये फलवत्तरं कृतमिदं लब्ध्वाधुना मत्कविम्  
 वैराटे स्वयमागतं शुभवशाद्रूमीशमहाह्वयम् ॥ ७६ ॥  
 प्रागहायि महात्मनात्ममतिना येनैतदध्यक्षतः  
 धर्मादेव मुख्यश्चितो यदसुखं प्रार्थस्त्यधर्मादिति ।  
 तत्तात्त्व्यिदुषः कृपापरतया देशोपदेशद्वया-  
 ऋग्भिर्गारकहेमचन्द्रविदिताम्नांये कृतानात्मनः ॥ ७७ ॥  
 मामान्यादवगम्य धर्मफलितुं ज्ञानुं विशेषादपि  
 भक्त्या यस्तमपीपृच्छद्वृषभचिर्नाम्नाधुना कामन' ।  
 धर्मत्वं किमथास्य हेतुरथ किं माक्षत्फलं तस्यत  
 स्वामित्वं किमयेति मूरिरयदन् सर्वं प्रणुन्नः कवि' ॥ ७८ ॥  
 धर्मः प्राणिदया तदर्थमथ यत् मत्यत्रतादि स्पृष्टं  
 यद्वाहृत्प्रतिबिम्बपूजनमत' सत्पात्रदानादि यत् ।  
 तद्धेतुर्वाहिरात्रवागध फलं स्वर्गापवर्गभियो  
 भठ्यस्तत्पदभागुपासकमणे धर्मं कुरुष्यादरान् ॥ ७९ ॥  
 सत्यं धर्मरसायनो यदि तदा मां शिक्षयोपकृमान्

१ 'स' पुनर्वे "जननो" इतिपाठः । २ 'क' पुनर्वे "साकविः" इतिपाठः । ३ 'क' पुनर्वे "महत्तरेष्वः" इतिपाठः विष्णु न माधुः इतिभक्ति । ४ "क" पुनर्वे "सुभाक्षिनो" इतिपाठः अथमपि न साधुः । ५ "क" "स" पुनर्वे "आकाशे" इतिपाठः । ६ उच्यमान् ।

मारोद्धारमिवाप्यनुमहृतया स्वल्पाक्षरं मारयन् ।  
 आपं चापि मृदूक्तिभिः स्फुटमनुच्छिष्टं नवीनं मह-  
 निर्माणं परिधेहि सङ्घनृपतिः भूयोप्यवादीदिति ॥ ८० ॥  
 श्रुत्वेत्यादिवचःशतं मृदुरुचिर्निर्दिष्टनामा कवि  
 नेतुं यावद्मोघतामभिमतं स्वोपक्रमायोद्यतः ।  
 तत्रत्यं जिनमन्दिरं कथिमनोदृग्गोचरं व्याहर-  
 त्तावचेति सहायतां गुरुवचो द्रव्यादिलब्धाविव ॥ ८१ ॥  
 उचैरुच्यतरस्थलादापिदृढमावैश्विता मित्तयः  
 पश्वेन्तम्भममद्वकोष्टघटिताः शालाश्रतघ्नः शुभाः ।  
 मध्ये स्याद्वरवादिक्तमतनु कूटोस्ति मन्येत्वहं  
 वैराटस्य शिरःकिरीटघटितं चैताजिनानां गृहम् ॥ ८२ ॥  
 अनुपमशरमंख्यापूर्णवर्णावलीभि  
 लिखितमनुजनागामत्यमर्षस्वमारम् ।  
 ध्वजचमरमृगेन्द्रस्यासनातोयच्छत्रैः  
 समयसरणशोभोद्भासि सद्येदमत्र ॥ ८३ ॥  
 चित्रालीयंदलीलिख्वात्रिजगतामामृष्टिसर्गक्रमा  
 दादेशाद्दुपदेशतश्च नियतं श्रीश्वेमर्कतैः गुरोः ।  
 गुर्वाज्ञानतिवृत्तितश्च विदुपस्तान्द्रूपदेशादापि  
 वैराटस्य जिनालये लिपिचरन्तत्सार्थनामावभूत् ॥ ८४ ॥  
 यत्र आयकमदपमण्डितमही स्वर्गाचले वाशुतत्  
 म्वाद्वादाशदमन्दवादिदितास्तिष्ठन्तिप्रार्हताः ।  
 निमंथ्याः शमिनस्तपोभिभरतो, निर्दिग्धकर्मैन्धनाः  
 श्रीवैराटपुरास्थितं जिनगृहं तत्केन संवर्ष्यते ॥ ८५ ॥  
 पात्रभ्यो गृह्यमंक्रमनिरतैर्नियं सदाचारिभिः  
 दीयन्तेऽभयभेषजानुभवनाप्रादानि दानानि च ।  
 पूयन्ते जिनविम्बशास्त्रमुनयो यत्रानिशं भेषगे  
 श्रीवैराटजिनालय प्रतिदिनं जीपाद्वरेण्यो वः ॥ ८६ ॥

इत्याद्यनेकगुणराजिविराजमानं  
संप्रक्षणीयमानिशं जगदीक्षणानाम् ।  
तत्र स्थितः किल करोति कविः कवित्वं  
तद्बद्धतामापि गुणं जिनशासनं च ॥ ८७ ॥

इति श्रीस्याद्वादानयद्यप्यगद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमहद्वि-  
रचितायां भावकाधारापरनामलाटीसंहितायां साधुभी  
दृहात्मजकामनमनःसरोजाराविन्दविकाशनैक भास्व-  
ण्डमण्डलायमानायां कथामुखवर्णने नाम  
प्रथमः सर्गः ।

## अथ द्वितीयः सर्गः ।

एतत्कथामुग्ररसे रसिकामणीयों  
दृहात्मजो जयति कामननामधेयः ।  
वैराटपद्मदृतां महनीयकीर्ति-  
रुभोतकान्वयमयो गरिभाग्युराशिः ॥ १ ॥

इत्याशीर्षदः ।

अहिंसा परमोधर्मः श्याद्धर्मस्तदत्येयान् ।  
भिद्धान्तः सर्वतन्त्रोयं तद्विशेषोऽधुनोप्यते ॥ १ ॥  
सर्वमावशयोगस्य निवृत्तिर्ग्रतमुच्यते ।  
यो मृपादिपरित्यागः सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥ २ ॥  
नद्रत्तं सर्वतः कर्तुं मुनिरेव ध्रुमो महान् ।  
तस्यैव मोक्षमार्गश्च भावी नान्यस्य जातुषित् ॥ ३ ॥  
अतः सर्वोत्मना मन्यक् कर्तव्यं तद्विधीयते ।  
शृणुतस्त्वे नरत्वेऽस्मिन् सूक्तविन्दुरूपमे ॥ ४ ॥

१ अहिंसाधर्मनाशान् ।

देुरवधानतया मोहात्प्रमादाद्वापि शोधितम् ।  
 दुःशोधितं तदेव स्याद् ज्ञेयं चाशोधितं यथा ॥ २५ ॥  
 तस्मात्सद्भ्रतरक्षार्थं पलदोषनिवृत्तये ।  
 आत्मदग्भिः स्वहस्तैश्च सम्यगग्न्यादि शोधयेत् ॥ २६ ॥  
 यथात्माथं सुवर्णादिक्रयार्थां सम्यगीक्षयेत् ।  
 व्रतवानपि गृह्णीयादाहारं सुनिरीक्षितम् ॥ २७ ॥  
 सधर्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा ।  
 शोधितं पाचितं चापि नाहरेद् व्रतरक्षकः ॥ २८ ॥  
 ननु केनापि स्वीयेन सधर्मेण विधर्मिणा ।  
 शोधितं पाचितं भाज्यं सुज्ञेन स्पष्टचक्षुषा ॥ २९ ॥  
 मैवं यथोदितस्योच्चैर्विधासो व्रतहानये ।  
 अनार्यस्याप्यनार्द्रस्य संयमे नाधिकारिता ॥ ३० ॥  
 चलितत्वात्सीमन्त्रैव नूनं भाविव्रतक्षतिः ।  
 शैथिल्याद्धीयमानस्य संयमस्य कुतः स्थितिः ॥ ३१ ॥  
 शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्याद् ग्रहणं कृती ।  
 कालस्यातिक्रमाद्भूयो दृष्टिपूतं समाचरेत् ॥ ३२ ॥  
 केवलेनाग्निना पक्वं मिश्रितेन घृतेन वा ।  
 उपितान्नं न भुञ्जीत पिशिताशनदीपवित् ॥ ३३ ॥  
 तत्रातिकालमात्रस्य परिणामगुणात्तथा ।  
 सम्मूच्छर्यन्ते व्रसाः सूक्ष्माः ज्ञेयाः सर्वविदाशया ॥ ३४ ॥  
 शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि कदाचन ।  
 श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नतः ॥ ३५ ॥  
 तत्रावश्यं व्रसाः सूक्ष्माः केचित्स्युर्दृष्टिगोचराः ।  
 न त्यजन्ति कदाचित्तं शाकपत्राभयं मनाक् ॥ ३६ ॥  
 तस्माद्दर्शार्थिना नूनमात्मनो हितमिच्छता ।  
 आताम्बूलं दलं त्याज्यं भावकैर्दर्शनान्वितैः ॥ ३७ ॥

गजन्यां भोजनं त्याग्यं नैष्ठिकैर्व्रतधारिभिः ।  
 पिशिताशनदोषस्य त्यागाय महद्दुःखम् ॥ ३८ ॥  
 ननु रात्रिभुक्तित्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित् ।  
 पष्टमंशकविरुत्यातप्रतिमायामास्ते यतः ॥ ३९ ॥  
 मत्स्यं सर्वात्मना तत्र निशाभोजनवर्जनम् ।  
 हेतोः किन्त्वत्र दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवागमान् ॥ ४० ॥  
 अस्ति कश्चिद्विशेषोत्र स्वल्पाभासार्थतोमहान् ।  
 मातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रार्तीचारवर्जिता ॥ ४१ ॥  
 निपिद्धमन्नमात्रादिस्थूलभोग्यं प्रते दृशः ।  
 न निपिद्धं जलाद्यत्र ताम्बूलानपि वा निशि ॥ ४२ ॥  
 तत्र ताम्बूलतोयादिनिपिद्धं यावदञ्जना ।  
 प्राणान्तेऽपि न भोक्तव्यमौषधादि मनीषिणा ॥ ४३ ॥  
 न घाद्यं भोजयेदन्नं कश्चिदर्शनिको निशि ।  
 अप्रतित्वाद्दशक्यत्वात्पक्षमात्रात्मपाक्षिकः ॥ ४४ ॥  
 अस्ति तत्र कुलाचारः सैषा नाम्ना कुलक्रिया ।  
 तां विना दर्शनिको न स्यान्नस्यान्नामतस्तथा ॥ ४५ ॥  
 मासमात्रपरित्यागादनस्तमितभोजनम् ।  
 प्रतं सर्वजघन्यंम्यात्तदधस्तात्त्वादक्रियाः ॥ ४६ ॥  
 नेत्यं यः पाक्षिकः कश्चिद् प्रनाभाषादम्यप्रती ।  
 पक्षमात्रावल्म्बी स्याद्भ्रतमात्रं नपाचरेत् ॥ ४७ ॥  
 यतोस्य पक्षमाहित्वमसिद्धं बाधमम्भयान् ।  
 लोपात्सर्वविदाज्ञायाः साध्या पाक्षिकता कुतः ॥ ४८ ॥  
 आज्ञा मर्षाविदः सैव क्रियावान् धाषको मतः ।  
 कश्चित्मर्षानिच्छेदोपि न त्यजेत्स कुलक्रियाः ॥ ४९ ॥

१ अन्यभाष्यम् । २ क न पुनरुच्ये: "स्यान्नपाट्टनात्प्रतस्तथा" इति पाठः  
 इतिनेनेकाक्षराधिक्यम् ।



उक्तेषु वक्ष्यमाणेषु दर्शनिक्रमेषु च ।  
 सन्देहो नैव कर्तव्यः कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥ ५० ॥  
 प्रसिद्धं सर्वलोकेस्मिन् निशायां द्वापसन्निधौ ।  
 पतङ्गादि पतत्येव प्राणिजातं त्रसात्मकम् ॥ ५१ ॥  
 म्रियन्ते जन्तवस्तत्र अम्वापातात्समक्षतः ।  
 तत्कलेवरसम्मिश्रं तत्कुतः स्यादनामिषम् ॥ ५२ ॥  
 युक्तायुक्तविचारोपि नास्ति वा निशि भोजने ।  
 मक्षिका नेक्ष्यते सम्यक् का कथा मसकस्य तु ॥ ५३ ॥  
 तस्मात्संयमवृद्धयर्थं निशायां भोजनं त्यजेत् ।  
 शक्तितस्तद्यतुष्कं स्यादन्नाद्यन्यतमादि वा ॥ ५४ ॥  
 यत्रोपितं न भक्ष्यं स्यादन्नादि पलदोपतः ।  
 आसवारिष्टसन्धानाथानादीनां कथात्र का ॥ ५५ ॥  
 रूपगन्धरसस्पर्शाद्यलितं नैव भक्षयेत् ।  
 अवश्यं त्रसर्जादीनां निकोतानां समाश्रयान् ॥ ५६ ॥  
 दूधितकरसादीनां भक्षणं वक्ष्यमाणतः ।  
 कालादवाक् , ततस्तूद्धं न भक्ष्यं तदभक्षयत् ॥ ५७ ॥  
 इत्येवं पलदोपस्य दिग्मात्रं लक्षणं स्मृतम् ।  
 फलितं भक्षणादस्य वक्ष्यामि शृणुताधुना ॥ ५८ ॥  
 सिद्धान्ते सिद्धमेवैतन् सर्वतः सर्वदेहिनाम् ।  
 मांसांशस्याशनादेव भावः संकेशितो भवेत् ॥ ५९ ॥  
 न कदाचिन् मृदुत्वं स्याद्योगं व्रतधारणे ।  
 द्रव्यतो कमरूपस्य तच्छुक्तरनतिक्रमात् ॥ ६० ॥  
 अनाशनिधना नूनमभिनत्या यस्तुशक्तयः ।  
 न प्रतर्क्याः कुतर्कयन् स्वभाषाऽतर्कगोचरः ॥ ६१ ॥  
 अयम्कान्तोपलाकृष्टसूचीयसद्द्वयोःपृथक् ।  
 अस्ति शक्तिर्विभाषारूपा मिथो बन्धादिकारिणी ॥ ६२ ॥

न दास्यमशिक्षित्वरं वस्तुवागमकारणम् ।

धनुरादिविवागनामिन्द्रियापेषु दर्शनान् ॥ ६३ ॥

उक्तं च ।

यद्भस्नुषाद्य गुणदोषगृहेतुनिमित्तमभ्यन्तरमूलेद्योः ।

अध्यागमृत्तस्य तद्गद्गभूतमभ्यन्तरं चेषलमप्यस्य ते ॥ ३ ॥

एष मांसाशनाद्भावाऽवृत्त्य संश्रितातो भवेत् ।

तस्माद्मातवन्ध स्यात्ततो भ्रान्तिरततोऽमुखम् ॥ ६४ ॥

एतदुक्त परिष्ठाद्य भ्रष्टाय च सुदुर्मुहुः ।

ततो विरमणं कार्यं आवकैर्धर्मवेदिभिः ॥ ६५ ॥

मयं लक्षवत्सलस्य चक्ष्म्यर्ताधारवर्जनम् ।

यस्यागेन भवेत्तुद्ध आयको ज्ञातवर्णवत् ॥ ६६ ॥

दयोश्चक्षानयुक्तस्य मादनांन्माद्यमुच्यते ।

ज्ञानात्प्राप्तहेतुन्वाग्यात्तदवशकारणम् ॥ ६७ ॥

भङ्गादिपेजधनुर ररस्यसादिफलं च दत् ।

माग्नताहेतुरन्यद्वा सर्वं मणवदीरितम् ॥ ६८ ॥

एषमित्यादि यद्भस्नु सुरेष मदकारकम् ।

नाग्निग्निल त्यजेर्द्धीमान् श्रेयमे ह्यात्मनो गृही ॥ ६९ ॥

दोषत्व प्राग्मातिर्ध्वजस्तनोमिध्यायवोधनम् ।

रागादयस्ततः कर्म तनो जन्मेह हेजता ॥ ७० ॥

दिग्मात्रमत्र द्याग्यात्तं तावन्मात्रैकहेतुतः ।

द्याग्याग्यामः पुरो द्यामानलङ्घतावसरे वैयम् ॥ ७१ ॥

माक्षिकं मक्षिकानां हि मांसारृक् पीडनोद्भवम् ।

प्रमिद्धं सर्वलोके स्यादागमेष्वपि सूचितम् ॥ ७२ ॥

न्यायालङ्घने नूनं पिशिताशनदूषणम् ।

प्रमारता मक्षिका यस्मादासिपं तत्कलेष्वरम् ॥ ७३ ॥

१ उन्मादकारणम् । २ श्लोकप्रम् । ३ विरगतः । ४ 'क' पुनके  
" स्वयम् " इतिपाठः ।

किञ्च तत्र निकोतादिजीवाः संसर्गजाः क्षणान् ।  
 सन्मूर्च्छिमा न मुञ्चन्ति तत्सङ्गं जातु श्रुत्यवन् ॥ ७४ ॥  
 यथा पक्वं च शुष्कं वा पलं शुद्धं न जातुचित् ।  
 प्रासुकं न भवेत्कापि नित्यं साधारणं यतः ॥ ७५ ॥  
 अयमर्थो यथास्त्रादि कारणात्प्रासुकं भवेत् ।  
 शुष्कं वाप्यमिपक्वं वा प्रासुकं न तथामिपम् ॥ ७६ ॥  
 प्राग्यदत्रायतीत्याग सन्ति केचिन्निनागमात् ।  
 यथा पुष्परस पीत पुष्पाणामासवो यथा ॥ ७७ ॥  
 उदुम्बरफलान्येव नादेयानि दृगात्मभिः ।  
 नित्यं साधारणान्येव प्रसाङ्गैराश्रितानि च ॥ ७८ ॥  
 अत्रोदुम्बरशब्दस्तु नूनं स्यादुपलक्षणम् ।  
 तेन साधारणास्त्याग्या ये यनस्पतिकारिकाः ॥ ७९ ॥

उक्तं च ।

भूलगगणोरथा आ साहा तद् गन्धकद्वयीअरुहा ।  
 मम्मुच्छिमा य भणिया पत्नेयागतकाया य ॥ ४ ॥

१ अन्वयः—येषां प्रत्यक्षपनस्पतीनां कन्दस्य वा मूलस्य वा शलाया वा  
 म्बुत्वात्पत्नेया वा न्यायद्वयता इत्युक्तता भवन्ति तेषां अममजीवाः सान्प्रतीये  
 निगोदजाते सङ्घितं प्रानागतप्रवेहाः इत्यर्थः । त् पुनः येषां कन्दार्वाते लक्ष्  
 क्तनता अथवा त भवतीनागतप्रवेहाः भवन्ति । मूलं बीजं येषां ते मूलपीताः  
 अत्रोदुम्बरादयः, अथ बीजं येषां ते अपपीताः, आर्षकोदीत्यादयः । काल-  
 केतकोत्पत्त्यादयः । पत्र बीजं येषां ते पत्रपीताः, इत्युत्पत्त्यादयः । कन्दो धातुं येषां  
 ते कन्दार्वाते सिङ्गात् मूलादयः । रजसो बीजं येषां ते म्बुत्वापीताः सप्तर्षी  
 कन्दार्वात्पत्त्यादयः । बीजं तु रोहता नि धी म्बुत्वाः । शालागणोत्पत्त्यादयः । सन्मूर्च्छि  
 म्बुत्वात्पत्त्यादयः । मूलं तु रोहता नि धी म्बुत्वाः । अममजीवननिगोदत्तं येषां कायाः  
 प्रतीयेनप्रवेहाः । यथाकन्दं अममजीवनप्रवेहाः सन्तीयेन । एते मूलपीताः इ  
 त्प्रानागतप्रवेहाः, यथा कन्दार्वात्पत्त्यादयः सन्तीयेन । सन्मूर्च्छिमा एव अममजीव ।  
 अत्रोदुम्बरादयः । अत्रोदुम्बरादयः प्रवेहाः शरीरे येषां ते प्रतीयेनप्रवेहाः ।  
 अत्रोदुम्बरादयः । अत्रोदुम्बरादयः । अत्रोदुम्बरादयः ।

साहारणमाहारं साहारणमाणपाणगहर्णं च ।

साहारणजीवाणं साहारणलक्ष्यणं भणियं ॥ ५ ॥

जित्येवमरइ जीवो तत्थ दु मरणं ह्वे अणंताणं ।

चंयमइ जत्थ इहो चंयमणं तत्थ णंताणं ॥ ६ ॥

मूल-ज्ञा यथाप्रोक्ता फलकाद्याद्रकादयः ।

न भश्या देवयोगाद्वा रेगिणाप्यौषधच्छलान् ॥ ८० ॥

सद्गक्षणे महापाप प्राणिसन्दोहपीडनात् ।

सर्वज्ञाक्षावलादेतद्दर्शनीय दृगद्भिभिः ॥ ८१ ॥

ननु केनानुमीयेत हेतुना पक्षधर्मता ।

प्रत्यक्षानुपलब्धित्वाजीवाभावोपधार्यते ॥ ८२ ॥

मैवं प्रागेव प्रोक्तत्वात्मवभावोऽतेर्कगोचरः ।

तेन सर्वविदाज्ञाया स्वीकर्तव्य यथोदितम् ॥ ८३ ॥

नन्यस्तु तत्तदाज्ञाया पृच्छुमीदामहे परम् ।

येदेकाक्षरारीणां भश्यत्वं प्रोक्तमर्हता ॥ ८४ ॥

१ यत्साधारणनामइमोद्वयवशवर्षनन्तर्जाबाला उत्पन्नप्रथमसमये आहारवर्षाणि, तत्कार्यचाहारवर्षणायात्पुद्गलव्यवधाना सत्प्रसभागपरिणमनं साधारणमदृश समकालं च भवति । तथा शरीरवर्षाणि तत्कार्यचाहारवर्षणायात्पुद्गलव्यवधाने शरीरवर्षाणां परिणमनं इन्द्रियवर्षाणि तत्कार्यं च दर्शनादीन्द्रियाकारपरिणमनम् । आनपत्तवर्षाणि तत्कार्यं च उत्पत्तानिश्चसपहणं । साधारणं समकालं च भवति । तथा प्रथमसमयोरप्यज्ञानाभिश्च तत्रैव शरीरे द्वितीयादिसमयोरप्यज्ञानात्पनन्तानन्तर्जाबालाः पूर्वपूर्वसमयोरप्यज्ञानात्पनन्तानन्तर्जाबाले सद्वाहारवर्षाण्यदिक् सर्वं सद्वां समकालं च भवति । तदिदं साधारणलक्षणं भवितम् । नि नियमादुत्पन्नसत्त्वावित्पन्नानां जीबानां गोद क्षेप स्थानं द्दानाति निगोदं चर्म । तत्तुवा जीवा निगोदा इत्युच्यते । अथवा नियतानां अनन्तानन्तर्जाबाला एवा एव तां भूमिं क्षेप निवासं द्दानाति निगोदं तन् शरीरं येषां ते निगोदाः । एकोत्पत्तानिश्चामे अहादा इत्युच्यते अज्ञादाशरीरं मरणं कुर्वति ॥ १ यत्र एकं धियते जीवः तत्र तु मरणं भवेत् अनन्तानाम् चरुमते यत्र एकः चरुमणं तत्र अनन्तानाम् । १ आनमनम्-जन्म । २ विदारणोचो भवति ।

सत्यं बहुधादत्र भक्ष्यत्वं नोक्तमर्हता ।  
 कुतश्चिन्कारणादेव नोद्दिश्यं जिनशासनम् ॥ ८५ ॥  
 एवं चेत्तत्र जीवान्ते कियन्तो वद कोविद ।  
 हेतोर्यदत्र सर्वशैरभक्ष्यत्वमुदीरितम् ॥ ८६ ॥  
 घनाद्गुलामंख्यभागभागैकं तद्वपुः स्मृतम् ।  
 तत्रैरुस्मिन् शरीरे स्युः प्राणिनोऽनन्तमंक्षिताः ॥ ८७ ॥

उक्तं च ।

एयाणिगोयसरीरे जीवा दृश्यापमाणदो दिडा ।  
 सिद्धेहि अणंतगुणा सञ्च्येण वितीदकालेण ॥ ७ ॥  
 इदमेवात्र तात्पर्यं तावन्मात्रावगाहके ।  
 केचिन्मिथोवगाहा स्युःकीभावादिवापरे ॥ ८८ ॥

उक्तं च ।

जंबूद्वीपे भरहे कोसलनाकेय तग्धरायं च ।  
 खंधंडर आवासा पुलविसरीराणि दिडंता ॥ ८ ॥  
 एतन्मत्वार्हता प्रोक्तमाजवंजघभीरुणा ।  
 कन्दादिलक्षणत्यागे कर्तव्या मुमतिः सतो ॥ ८९ ॥  
 रवमन्यदपि त्याज्यं यत्साधारणलक्षणम् ।  
 साश्रितं विशेषेण तद्द्वियुक्तस्य का कथा ॥ ९० ॥  
 साधारणं च केषांचिन्मूलं स्कन्धस्तथागमान् ।  
 आसाः पत्राणि पुष्पाणि पर्वदुग्धफलानि च ॥ ९१ ॥  
 तद्व्यस्तानि केषांचित्समस्तान्यथदेहिनाम् ।  
 मूलाः सर्वाणि ज्ञात्वा सम्यक् परित्यजेत् ॥ ९२ ॥  
 साधारणास्तत्र मूलकाश्चाद्रकादयः ।  
 पापप्रदाः सर्वे मूलेन्मूल्या गृहिणतैः ॥ ९३ ॥  
 यत्रपयः पर्वं सुर्यमाधारणा यथा ।  
 चाकंदुग्धं साधारणं मतम् ॥ ९४ ॥

पुष्पमाधारणा कोचित्करीरसर्पपादयः ।  
 पर्वमाधारणाध्रेञ्जुदण्डा साधारणाभवाः ॥ ९५ ॥  
 कन्दमाधारणं ख्यातं शोक्तोदुम्बरपद्मम् ।  
 नाग्यामाधारणा ख्याता कुमारीपिण्डकादयः ॥ ९६ ॥  
 कुंपलानि च सर्वेषा मृद्नि च यथागमम् ।  
 सन्ति साधारणान्येव शोक्त्वालावधेरथ ॥ ९७ ॥  
 शाकाः साधारणा कश्चित्केचित्प्रत्येकमृतयः ।  
 घृतसाधारणा काश्चित्काश्चित्प्रत्येकधाः स्फुटम् ॥ ९८ ॥  
 तत्स्वरूप परिज्ञाय कर्तव्या विरतिस्ततः ।  
 उत्तमर्गात्मवतस्त्यागो यथाशक्त्यापवादतः ॥ ९९ ॥  
 शक्तितो विरतौ चापि विवेकः साधुरात्मनः ।  
 निर्विषेकात्कृतं कर्म विफलं चाल्पफलं भवेत् ॥ १०० ॥  
 कदाचिन्महतोऽज्ञानाद्दुर्द्वेषाग्निर्विवेकिनाम् ।  
 तत्केवलमनर्थाय कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ १०१ ॥  
 यथात्र भयमे कोविद्धिमा कुर्वन्ति कर्मणि ।  
 अज्ञानात्स्वर्गहेतुन्व मन्यमाना प्रमादिनः ॥ १०२ ॥  
 तद्बुद्धयं तत्कामेन भवितव्यं विवेकिनाम् ।  
 देशतो वस्तुमन्त्याया शक्तितो प्रतयारिणा ॥ १०३ ॥  
 विवेकान्यावकाशोऽग्नि देशतो विरतावपि ।  
 आदेयं प्रामुक्तं योग्यं नादेयं तद्विपर्ययम् ॥ १०४ ॥  
 न च स्वात्मेच्छया किञ्चिदान्तमादेयमेव तन् ।  
 नास्तं यत्तदनादेय भ्रान्तोऽन्मत्तकषाक्यवन् ॥ १०५ ॥  
 तस्मात्प्रामुक्तं शुद्धं तुच्छद्विभाकरं शुभम् ।  
 सर्वं लक्ष्मुमशक्येन प्राहं तत्तच्चिदल्पशः ॥ १०६ ॥

यावत्साधारणं त्याज्यं त्याज्यं यावत्त्रसाश्रितम् ।  
 एतत्त्यागे गुणोवश्यं संप्रहे स्वल्पदोषता ॥ १०७ ॥  
 ननु साधारणं यावत्तत्सर्वं लक्ष्यते कथम् ।  
 सत्यं जिनागमे प्रोक्ताहश्रणादेव लक्ष्यते ॥ १०८ ॥  
 तल्लक्षणं यथा भङ्गे समभागः प्रजायते ।  
 तावत्साधारणं ज्ञेयं शेषं प्रत्येकमेव तत् ॥ १०९ ॥  
 तत्राप्यत्यल्पीकरणं योग्यं योगेषु वस्तुषु ।  
 यतस्तृष्णानिवृत्त्यर्थमेतत्सर्वं प्रकीर्तितम् ॥ ११० ॥  
 इति संक्षेपतः ख्यातं साक्षा मूलगुणाष्टकम् ।  
 अर्थादुत्तरसंज्ञाश्च गुणाःस्युर्गृहमेधिनाम् ॥ १११ ॥  
 तांरंतानवसरे तत्र वक्ष्यामः स्वल्पविस्तरात् ।  
 इतः प्रसङ्गतो वक्ष्ये तत्सप्तव्यसनोज्झनम् ॥ ११२ ॥  
 द्यूतमांससुरावेद्याखेटचौर्यपराङ्गनाः ।  
 महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥ ११३ ॥  
 अक्षपासादिनिक्षिप्तं वित्ताज्यपराजयम् ।  
 क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ॥ ११४ ॥  
 प्रसिद्धं द्यूतकर्मदं सद्यो वन्धकरं स्मृतम् ।  
 यावदापन्मयं ज्ञात्वा त्याज्यं धर्मानुरागिणा ॥ ११५ ॥  
 तत्र बद्धः कथा सन्ति द्यूतस्यानिष्टसूचिकाः ।  
 रतास्तत्र नराः पूर्वं नष्टा धर्मसुतादयः ॥ ११६ ॥  
 भ्रूयते दृश्यते चैव द्यूतस्यैतद्विजृम्भितम् ।  
 दरिद्राः कर्तितोपाङ्गा नराः प्रास्ताधिकारकाः ॥ ११७ ॥  
 न याच्यं द्यूतमात्रं स्यादेकं तद्व्यसनं मनाक् ।  
 चौर्यादि सर्वव्यसनपतिरेष न संशयः ॥ ११८ ॥

विद्यन्तेप्राप्यतीचारास्तस्ममा इव केचन ।  
 जेतव्यान्तेपि ह्यर्मागे लभैः प्रत्यमद्युद्धिभिः ॥ ११९ ॥  
 अन्योन्यस्यैर्षया यत्र विजिगीषा द्वयोरिति ।  
 व्यवसायादृते कर्म शूतार्ताचार इष्यते ॥ १२० ॥  
 यथाहं धावयाम्यत्र यूयं चाप्यत्र धावत ।  
 यदातिरिक्तं गच्छेयं त्वत्ते। गृह्णामि धेष्मितम् ॥ १२१ ॥  
 इत्येवमादयोप्यन्ये शूतार्ताचारसंज्ञिकाः ।  
 क्षपणीया क्षणादेव शूनत्यागोन्मुखैर्नरैः ॥ १२२ ॥  
 मामगम्य भक्षणे दोषा प्रागेवात्र प्रपञ्चिता ।  
 पुनरुक्तमयाद्भूयो नीता नोदशप्रक्रियाम् ॥ १२३ ॥  
 कर्म तत्र प्रवृत्तः स्यादासक्तिर्व्यमनं महत् ।  
 प्रवृत्तिर्यत्र स्याज्या स्यादासक्तेस्तत्र का कथा ॥ १२४ ॥  
 मैरेयंमपि नादेयमित्युक्तं प्रागितो यतः ।  
 ततोऽत्र वक्तव्यतायां पिष्टपेपणदूषणम् ॥ १२५ ॥  
 प्राग्बद्धं विशेषोस्ति महानन्याविवक्षितः ।  
 सामान्यलक्षणाभावे तद्विशेषभूतिर्यथा ॥ १२६ ॥  
 प्रवृत्तिस्तु क्रियामात्रमामासक्तिर्व्यमनं महत् ।  
 त्यक्ताया तत्प्रवृत्ता वै का कथा सक्तिवर्जने ॥ १२७ ॥  
 तदलं घट्टनोक्तेन तद्ग्रन्थोऽवशकारणम् ।  
 स्मृतमात्रं हि तन्नाम धर्मध्वंभाय जायते ॥ १२८ ॥  
 पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम् ।  
 तन्नाम दारिका दामी वंश्या पत्तननायिका ॥ १२९ ॥  
 तस्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयार्थं यत्तेतां नृणाम् ।  
 मद्यमांसादिदोषान्बै नि शेषान् त्यक्तुमिच्छताम् ॥ १३० ॥  
 आस्तां तत्तद्गमे दोषा दुर्गता पतनं नृणाम् ।  
 इहैव नरकं नूनं वेद्याव्यासक्तचेतसाम् ॥ १३१ ॥



उक्तं च ।

या स्यादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्याश्रयः ।  
 स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विद्रवत्यर्थप्रतिष्ठाश्रुतिम् ।  
 नीचानामपि दूरधकमत्तमः पापात्मिका कुर्वते ।  
 लालापानमहनिशं न नरकं वेद्यां विहायाऽपरम् ॥ ९ ॥  
 रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परममानचरिताभिः ।  
 वेद्याभिर्यादिसङ्घः कृतमिव परलोकवार्ताभिः ॥ १० ॥  
 प्रसिद्धं बहुभिस्तस्यां प्राप्ता दुःखपरंपराः ।  
 श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा पराः ॥ १३२ ॥  
 यावान् पापभरो यादृग्दारिका दारिकर्मणः ।  
 कविनापि न वा तावान् कापि वक्तुं च शक्यते ॥ १३३ ॥  
 आस्तां च तद्रतादत्र चित्रकादिभुजो नृणाम् ।  
 नारकादिगतिभ्रान्तेर्यद् दुःखं जन्मजन्मनि ॥ १३४ ॥  
 न वाच्यमेकमेवैतत्तावन्मात्राल्पदोषतः ।  
 द्यूतादिव्यसनासक्तेः कारणं धर्मभ्रवंसकृन् ॥ १३५ ॥  
 सुगमत्वाद्धि विस्तारप्रयासो न कृतो मया ।  
 दोषः सर्वप्रसिद्धोत्र वाचं दूकतया कृतम् ॥ १३६ ॥  
 सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चतुर्थप्रतवर्तिनः ।  
 निर्देश्यामो वयं तांस्तान् तत्तत्रायसरे यथा ॥ १३७ ॥  
 ख्यातः पण्याङ्गनात्यागः संश्लेषादक्षप्रत्ययात् ।  
 आखेटकपरित्यागः साधीयानिति शक्यते ॥ १३८ ॥  
 अन्तर्भावोस्ति तस्यापि गुणाणुव्रतसंज्ञके ।  
 अनर्थदण्डत्यागाख्ये बाह्यानर्थक्रियादिवत् ॥ १३९ ॥  
 तत्तत्रायसरेऽवश्यं वक्ष्यामो नातिविस्तरात् ।  
 प्रमह्णाद्वा तदत्रापि दिग्मात्रं यक्तुमर्हति ॥ १४० ॥

ननु धानर्धदण्डोऽस्ति भोगादन्यत्र याः क्रियाः ।  
 आत्मानन्दाय यत्कर्म तत्कथं म्यात्तयाविधम् ॥ १४१ ॥  
 यथा मूक्चदन योऽपिद्रुम्राभरणभोजनम् ।  
 मुग्गार्थं सर्वमेवतत्तथास्येदं क्रियापि च ॥ १४२ ॥  
 मैवं सांप्रानुभागस्य बन्ध प्रमादगौरवान् ।  
 प्रमादस्य निवृत्त्यर्थं स्मृतं प्रतकदम्बकम् ॥ १४३ ॥  
 मूक्चंदनवनितादीं क्रियाया वा मुग्गाप्रये ।  
 भोगभावो मुख तत्र हिमा स्यादानुपद्विकी ॥ १४४ ॥  
 आर्यदंके तु हिमाया. भावः स्याद्भूरिजन्मिनः ।  
 पश्चाद्वैवानुयांगेन भोग स्याद्वा नवा इचिन् ॥ १४५ ॥  
 हिमानन्देन तेनोच्चैरुद्ग्राह्यानेन प्राणिनाम् ।  
 नारकस्यैर्युषो बन्ध. स्यान्निर्दिष्टो जिनागमे ॥ १४६ ॥  
 ततोऽप्ययं हि हिंसायां भावश्चानर्धदण्डक. ।  
 त्याग्य प्रागेव सर्वेभ्य संकृतेभ्य प्रयत्नतः ॥ १४७ ॥  
 तत्रावान्तररूपस्य मृगयाभ्यासकर्मण. ।  
 त्यागः श्रेयानवश्यं स्यादन्यथाऽस्मात्बन्धनम् ॥ १४८ ॥  
 अतीचारास्तु तत्रापि मन्ति पापानुयायिनः ।  
 यानपास्य प्रतिकोऽपि निर्मली भवति ध्रुवम् ॥ १४९ ॥  
 कार्यं विनापि प्रीडार्थं कान्तुकार्थमथापि च ।  
 कर्तव्यमटनं नैव वापीकृपादिवर्त्मसु ॥ १५० ॥  
 पुष्पादिवाटिकासूर्ध्ववनेपूषवनेषु च ।  
 सरित्तटागक्रोडाद्रिसरःशून्यगृहादिषु ॥ १५१ ॥  
 शन्याधिष्ठानश्रेत्रेषु गोष्ठीनेष्वन्यवेऽसु ।  
 कारागारगृहेषुर्मठेषु नृपवेश्मसु ॥ १५२ ॥

१ अनर्धदण्डाण्यम् । २ प्रसङ्गोद्भवा । ३ प्रसृतीमारिषिः । ४ क स पुस्तकयोः  
 " नाशकस्यन्धुर्गोपन्धः " इतिपाठः ।

एवमित्यादिस्थानेषु विनाकार्यं न जातुचित् ।  
 कौतुकादिविनोदार्थं न गच्छेन्मृगयोञ्जितः ॥ १५३ ॥  
 तस्करादिविधातार्थं स्थानेषु चण्डभीरुषु ।  
 योद्धुमुत्सुकभूषादियोग्यासु युद्धभूमिषु ॥ १५४ ॥  
 गीतनाद्विवाहादिनाट्यशालादिवेश्मणु ।  
 हिंसारम्भेषु कूपादिगणनेषु च कर्मसु ॥ १५५ ॥  
 न कर्तव्या मतिर्धैरे स्वप्नमात्रे मनागपि ।  
 केवलं कर्मबन्धाय मोहस्यैतद्धि स्फूर्जितम् ॥ १५६ ॥  
 गच्छन्नप्यात्मकार्यार्थं गच्छेद् भूमिं विलोकयन् ।  
 युगदप्रां दृशा सम्यगोर्यासंगुद्धिहेतये ॥ १५७ ॥  
 तत्र गच्छन्न छिन्देद्वा तरुपर्णफलादिकान् ।  
 पद्भ्यां दोर्भ्यां न कुर्वीत जलम्फालनकर्म च ॥ १५८ ॥  
 नर्करादिपरिक्षेपं प्रस्तौभूमिकुहनम् ।  
 इतस्ततोऽननं घापि श्रीडाकूर्दनकर्म च ॥ १५९ ॥  
 द्विमोपदेशमित्यादि न कुर्वीत विचक्षणः ।  
 प्राक्पदव्यामित्यारूढ सर्वतोर्धदण्डमुद् ॥ १६० ॥  
 व्याख्यातो मृगयादोषः सर्वज्ञानानतिक्रमात् ।  
 अगन्तवाऽप्रतादीनां प्रतादीनां महोदरः ॥ १६१ ॥  
 अथ चौर्यत्रयमनस्य त्याग धेयानिति स्मृतः ।  
 मृत्नीयाणुप्रतम्यान्तर्मायो घायत्र मूर्ध्नि ॥ १६२ ॥  
 तच्छरणं यथा मूत्रे निर्दिष्टं पूर्वमूर्ध्निभिः ।  
 यथादृष्टादानं तत्रनेयं न्येयविवर्जितैः ॥ १६३ ॥  
 व्यसनं ग्याजप्रामाण्यः प्रभुभिर्वा सुदुमुद् ॥  
 यदा प्रतादिना शुक्रेः परित्यक्तुमशक्यता ॥ १६४ ॥  
 न्देनद्व्यसनं नूनं निविद्धं गृहमेधिनाम् ।  
 संसारदुःखभीष्णामरातीरमुभेविनाम् ॥ १६५ ॥



देवशास्त्रगुरून्त्रत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम् ।  
 पत्नी पाणिगृहीता स्यात्तदन्या चेष्टिका मता ॥ १७८ ॥  
 तत्र पाणिगृहीता या सा त्रिधा लक्षणाद्यथा ।  
 आत्मज्ञानिः परज्ञानिः कर्मभरुडिसाधनात् ॥ १७९ ॥  
 पारिणीतात्मज्ञानिश्च धर्मपत्नीति सैव च ।  
 धर्मकार्ये हि सर्वाची यागादौ शुभकर्मणि ॥ १८० ॥  
 सूनुस्तम्या समुत्पन्नः पितुर्धर्मधिकारवान् ।  
 सः पिता तु परोक्षः स्याद्देवात्प्रत्यक्ष एव वा ॥ १८१ ॥  
 सः सूनुः कर्मकार्येपि गोत्ररक्षादिलक्षणे ।  
 सर्वलोकाविरुद्धत्वाद्धिकारी नचेतरः ॥ १८२ ॥  
 परिणीतानात्मज्ञानिर्या पितृसाक्षिपूर्वकम् ।  
 भोगपत्नीति मा क्षेया भोगमात्रैकसाधनात् ॥ १८३ ॥  
 आत्मज्ञानिः परज्ञानिः सामान्य वनिता तु या ।  
 पाणिग्रहणशून्या चेष्टिका सुरतप्रिया ॥ ८४ ॥  
 चेष्टिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगाङ्गमात्रतः ।  
 लौकिकोक्तिविशेषोपि न भेदः पारमार्थिकः ।  
 भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम् ।  
 ग्रहणस्याविशेषेपि दोषो भेदस्य सम्भवात् ॥ ८६ ॥  
 अस्ति दोषविशेषोऽत्र जिनदृष्टश्च कश्चन ।  
 येन दाम्याः प्रसङ्गेन वस्त्रलेपोपसंचयः ॥ १८७ ॥  
 भाषेपु यदि शुद्धत्वं हेतुः पुण्याजनादिषु ।  
 एषं बन्धुव्यभक्त्यात्तद्वृत्तात्तद्धि नश्यति ॥ १८८ ॥  
 उक्तं च ।  
 मुनिरेव हि जानाति द्रव्यसंयोगजं गुणम् ।  
 मात्रिका वसनं कुर्यात्तद्विद् छदिप्रणाशनी ॥ ११ ॥  
 ननु यथा धर्मपत्न्यां यैव दाम्यां त्रिष्वैव गा ।  
 विशेषानुपलब्धश्च कथं भेदोवधार्यते ॥ १८५ ॥



अम्याः संसर्गवेलायामिद्विने नरि बैरिभिः ।  
 सायराधनया इण्डो नृपादिभ्यो भवेद्भुयम् ॥ २०२ ॥  
 केचिन्नैना वदन्त्येवं गृहीतैया स्थलभणान् ।  
 नृपादिभिर्गृहीतत्वाभ्रान्तिमार्गानतिक्रमात् ॥ २०३ ॥  
 विम्व्यातो नीनिमार्गोयं स्वामी स्यात्प्रगतो नृपः ।  
 वस्तुतो यम्य न स्वामी तस्य स्वामी महीपतिः ॥ २०४ ॥  
 तन्मतेषु गृहीता सा पित्रासौराजुनापि या ।  
 यस्या संसर्गतो भीतिर्जायते न नृपादितः ॥ २०५ ॥  
 तन्मते द्विभेय मीरी गृहीतागृहीतभेदतः ।  
 सामान्यवन्तिता या स्याद्गृहीतान्तर्भावतः ॥ २०६ ॥  
 एतमर्षं परिज्ञाय स्यानुभूतिममभवत् ।  
 पराङ्गनागु नादेया युद्धिर्भीषनशांलिभिः ॥ २०७ ॥  
 या निर्गच्छाम्नि शास्त्रेषु लोकेप्रानीय गर्दिता ।  
 सा भेवमी कुतोऽन्यर्था लोकाद्वयदितैविणाम् ॥ २०८ ॥  
 त्वाय वम परर्ष्याषु रतिं तृष्णोपशास्त्रये ।  
 विम्वय चापरो अकं लोकद्वयविभवंमिनीम् ॥ २०९ ॥  
 श्रुयन्ते तद्वां तेषां परर्ष्यामङ्गलाऽभा ।  
 ये इशास्यादया नूनमिदामुत्र भ कु म्बिता ॥ २१० ॥  
 श्रुयन्ते न पर तत्र इत्यन्तेऽर्शाणि कंचन ।  
 शशाङ्गेषु सदशा कुम्बिनेऽर्शाणि कुम्बिता ॥ २११ ॥  
 आत्मा यत्ररके कुम्ब भावनीयानुवेदिनाम् ।  
 त्रान पराङ्गनामष्टे शशाङ्ग-तर्दिदङ्गनाम् ॥ २१२ ॥  
 इदेवानर्षमन्तेऽहो यावानांश्च शृणुमः ।  
 त्वत्प्र ज्ञानेन वचनमन्तयोपिप्रमनेति ॥ २१३ ॥  
 शशाङ्गनामष्टे विम्वया इष्टं वचनं मदीःहने ।  
 तत्र शा-नसमन्तमादृश-वर्षाने वृषम् ॥ २१४ ॥

ततः क्षुन्नहृदिनाशः स्याद्दुःकार्यं ततो भवेत् ।  
 ततः स्यादुद्यमाभावस्ततः स्याद्दुःखविणश्रुतिः ॥ २१५ ॥  
 उपहास्यं च लोकेस्मिन् ततःशिष्टेष्वमान्यता ।  
 द्रंगिते' राजदण्डः स्यात्सर्वम्यद्दरणात्मकः ॥ २१६ ॥  
 भवेद्वा मरणं मोहादन्यस्त्रीलीतचेतसः ।  
 चित्रं किमत्र रोगाणामुद्भवोपि भवेद् ध्रुवम् ॥ २१७ ॥  
 यद्वाऽमुत्रेह यद्दुःखं यावद्यादृक् च दुःस्महम् ।  
 अन्यस्त्रीद्वयमनामकः सर्वं प्राप्नोति निश्चितम् ॥ २१८ ॥  
 अम्मदीयमतं चैतदोपविष्ठाद्वि मुञ्चति ।  
 न मुञ्चति तथा मन्दो ज्ञानदोषोपि मूढर्था ॥ २१९ ॥

इति श्री स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपिङ्गमाणेरजमल्ल  
 विरचितायां ध्यावकाधारापरनाम लाटीमंहितायां साधुधी  
 दूदात्मज फामनमनःसरोजारविन्दविकाराशैकमार्तण्ड  
 मण्डलायमानायां दर्शनमतिमा मत्ताधिकारमध्ये  
 मूलगुणाष्टकप्रतिपाल सतस्यसनरोधवर्णनो  
 नाम तृतीयः सर्गः ।

## अथ तृतीयः सर्गः ।

दूदात्मजः फामननामधेयः  
 स्वर्षंशेषेऽमश्वलदच्छदीपः ।  
 जीयाञ्जिनेशांद्दिमरोरुहालि-  
 रम्यां कथार्या रसिकावतंसः ॥ १ ॥

इत्यार्षाणां ॥

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम् ।  
 ज्ञानधारित्रयोर्धीजं मूलं धर्मतरोरिष ॥ १ ॥

१ ज्ञाने सति । १ मुमुक्षुः ।



तदेव सत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदम् ।  
 तदेव परमं ज्योतिः तदेव परमं तपः ॥ २ ॥  
 तदेवैष्टार्यसंसिद्धिस्तदेवास्ति मनोरथः ।  
 अश्नातीतं मुखं तत्स्यात्तत्कल्याणपरंपरा ॥ ३ ॥  
 विना येनात्र संसारे भ्रमतिम्म शरीरभाक् ।  
 भ्रमिष्यति तथानन्तं कालं भ्रमति संप्रति ॥ ४ ॥  
 अपि येन विना ज्ञानमज्ञानं स्यात्तदज्ञवत् ।  
 चारित्र्यं स्यात्कुचारित्र्यं तपो बालतपः स्मृतम् ॥ ५ ॥  
 अत्रातिविस्तरेणालं कर्म यावच्छुभात्मकम् ।  
 सर्वं तत्पुरतः सम्यक् सर्वं मिथ्या तदत्यायात् ॥ ६ ॥  
 तथ तत्त्वार्थभद्धानं सूत्रे सम्यक्त्वलक्षणे ।  
 प्रामाणिकं तदेव स्याच्छ्रुतकेवलिभिर्मतम् ॥ ७ ॥  
 तत्त्वं जीवास्तिकायाद्यास्तत्स्वरूपार्थसंज्ञकं ।  
 भद्धानं चानुभूतिः स्यात्तेषामेवेति निश्चयान् ॥ ८ ॥  
 सामान्यादेकमेवैतत्तद्विशेषविधेर्द्विधा ।  
 परोपचारसापेक्षाद्वैतोर्द्वैतवलादपि ॥ ९ ॥  
 तद्विशेषविधिस्तावन्निश्चयाद्ब्यवहारतः ।  
 सम्यक्त्वं स्याद्द्विधा तत्र निश्चयश्चैकधा यथा ॥ १० ॥  
 शुद्धस्यानुभवः साक्षाज्जीवस्योपाधिर्वर्जितः ।  
 सम्यक्त्वं निश्चयान् नूनमर्यादेकविधं हि तत् ॥ ११ ॥

उक्तं च ।

दर्शनमात्मयिनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।  
 स्थितिरात्मनि चारित्र्यं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥ १ ॥  
 व्ययहाराच्च सम्यक्त्वं ज्ञातव्यं लक्षणाद्यथा ।  
 जीवादि सप्ततत्त्वानां भद्धानं ग्राहमव्ययम् ॥ १२ ॥

उक्तं च ।

जीवादीमदृष्टं सम्यक्तं तेषु मधिगमो णाणं ।  
 रायादीपरिहरणं चरणं एवो ह्यु मोक्तरपहो ॥ २ ॥  
 यद्वा व्यवहृते घान्त्यं स्थूलं सम्यक्त्वलक्षणम् ।  
 आप्राप्रागमधर्मादिश्रद्धानं दूषणोऽग्नितम् ॥ १३ ॥

उक्तं च ।

नास्ति चार्हत्परो देवो धर्मोनास्ति दयापरः ।  
 तपःपरं च नैर्मन्ध्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥ ३ ॥  
 हेतुतोपि द्विधोऽिष्टं सम्यक्त्वं लक्षणाशया ।  
 तन्निर्गमादधिगमादित्युक्तं पूर्वमूरिभिः ॥ १४ ॥  
 निर्गमस्तु स्वभावोक्तिः सोपायोधिगमो मतः ।  
 अर्थोयं शब्दमात्रत्वादर्धत सूच्यतेऽधुना ॥ १५ ॥  
 नाम्ना मिध्यात्वकर्मकमस्ति मिद्धमनादितः ।  
 सम्यक्त्योत्पत्तिबेलाया ऋच्यतस्तत्रिधा भवेत् ॥ १६ ॥  
 अधोऽपूर्वानिष्टयाख्यं प्रमिद्धं करणत्रयम् ।  
 करणान्तमुद्दृतस्य मध्ये त्रेधास्ति नान्यदा ॥ १७ ॥

उक्तं च ।

जंतेण कोदवं वा पदमुखमसम्मभाष जंतेण ।  
 मिच्छादृष्टं तु तिहा असंगुणहीण दृष्टवकमा ॥ ४ ॥  
 त्रिधाभूतस्य तस्योच्छेरेवं मिध्यात्वकर्मणः ।  
 भेदात्त्रयभूतुक्तं च स्यादनन्तानुबन्धिनः ॥ १८ ॥  
 एतत्समुदितं प्रोक्तं दर्शनं मोहसप्तकम् ।  
 प्रागुपशमसम्यक्त्वे तत्सप्रोपगमो भवेत् ॥ १९ ॥

उक्तं च ।

पटमं पटमे गियदं पटमं विदियं च सट्ठवालीहि ।  
 ग्याइय सम्मत्तो पुण जक्खे जिणो वेत्थं मत्ति ॥ ५ ॥

निमर्गेऽधिगमे वापि सम्यक्त्वे तुल्यकारणम् ।

हम्भोहसप्तकस्य स्यादुभयाभावसंज्ञकः ॥ २० ॥

उक्तं च ।

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादुररइओय ।

विदिय कसाउदयादो अमंजदो होदि सम्मो सो ॥ ६ ॥

किन्तु सत्यन्तरङ्गेस्मिन् हेतावुत्पद्यते च यत् ।

नैमार्गिकं हि सम्यक्त्वं विनोद्देशादि हेतुना ॥ २१ ॥

यत्पुनश्चान्तरङ्गेस्मिन् सति हंतौ तथाविधि ।

उपदेशादिसापेक्षं स्यादाधिगमसंज्ञकम् ॥ २२ ॥

याह्यं निमित्तमप्राप्ति केपास्सिद्धिस्यदर्शनम् ।

अहंतामितरेषां तु जिनमहिमदर्शनम् ॥ २३ ॥

धर्मभ्रवणमेकेषां यद्वा देवर्षिदर्शनम् ।

जातिस्मरणमेकेषां वेदनामिभयस्तथा ॥ २४ ॥

एवमित्यादि षड्भो विद्यन्ते चाहाहेतयः ।

सम्यक्त्वप्रथमोत्पत्तायन्तरङ्गानतिक्रमान् ॥ २५ ॥

अस्यैतद्भ्रमणं नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।

त्रिनोक्तं श्रद्धात्प्रेष जीषाणर्थं यथारिथतम् ॥ २६ ॥

उक्तं च ।

णो इंदियमु विरदो णो जीये धायरे तमे थायि ।

जो सदहदि त्रिणुत्त सम्माइहा अविरदो सो ॥ ७ ॥

नर्नूदेणः किमेतावानस्ति किं वाऽपररोऽयतः ।

लक्षयते येन सदहद्विलेक्षणेनाश्रितः पुमान् ॥ २७ ॥

अपराय्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।

सम्यक्त्वेनाविनाभूनेर्यथा मोलक्षयते मुहह् ॥ २८ ॥

१ इत्येतेषु सिद्धयान्तिव्यवधानवन्ति ।

लक्षणेन च सम्यक्त्वं इत्येतेषां भेदे ।

२ लक्षणात्सम्यक्त्वमिति । ३ इति उक्तं लक्षणात् । च पुनः ।

उक्तमोक्षं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।  
नादेयं कर्मसर्वस्वं तद्दृष्टष्टोपलब्धितः ॥ २९ ॥  
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।  
गोचरं घावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ३० ॥  
न गोचरं मतिज्ञानश्रुतविज्ञानयोमेनाह ।  
नापि देशावधेस्तत्र विषयानुपलब्धितः ॥ ३१ ॥  
अस्त्यात्मनो गुणः फलित्मस्यक्त्वं निर्बिकल्पकम् ।  
तद्दृग्मोहोदयान्मिथ्यास्वादरूपमनादितः ॥ ३२ ॥  
दृषात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यामन्ने भवार्णवे ।  
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ३३ ॥  
प्रयत्नमन्तरेणापि दृग्मोहोपशमो भवेत् ।  
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमाम् ॥ ३४ ॥  
अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृग्मोहोपशमाद् यथा ।  
पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पकैः ॥ ३५ ॥  
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्बिकल्पकम् ।  
सत्तारूपं पारिणांमि प्रदेशेषु परं चित्तः ॥ ३६ ॥  
तत्रोत्प्रेरस्तमोनाशे तमीरेरिष रश्मिभिः ।  
दिशः प्रसोदमासेदुःसर्वतो विमलाशया ॥ ३७ ॥  
दृग्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेर्दृष्टेः पश्य वै ।  
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यम् ॥ ३८ ॥  
यथा वा मद्यधतुरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।  
उत्प्रेसो मूर्च्छितो जन्तुरुह्यापः स्यादमूर्छितः ॥ ३९ ॥  
दृग्मोहस्योदयान्मूच्छां वैचित्त्यं वा तथा भ्रमः ।  
प्रशान्ते तस्य मूच्छाया नाशाऽजीवो निरामयः ॥ ४० ॥

१ ऐन्द्रिविहम् । २ अश्विमेव, सर्ववयोः । ३ प्रसोति । ४ दिशः । ५ वा न  
पुनःकपोः पारिणांमि इति पाठः । ६ सुपरस्य । ७ निर्मलमशुभः । ८ दृष्टान्तः  
इति उद्देशः । ९ मनःशुद्ध्यायम् ।

भद्रानादिगुणाःबाह्ये लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।  
 न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ४१ ॥  
 अपि चात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्यपर्ययान् ।  
 अर्थाद्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥  
 यथोद्देशो हि दुर्दृश्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।  
 वाग्मनःकायचेष्टाणामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ४३ ॥  
 नन्वान्मानुभव माभारसम्यक्त्वं यस्तुतःस्वयम् ।  
 नश्चेत् सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात् ॥ ४४ ॥  
 नैवं यतोऽनभिज्ञोऽपि मत्सामान्यविशेषयोः ।  
 अप्यनाकारमाकारनिर्द्वयोस्तदशपोच्यते ॥ ४५ ॥  
 आकारोऽर्धविकल्पस्यादर्थस्वपरगोचरः ।  
 सांपयोगो विकल्पो वा ज्ञानम्येतद्वि लक्षणम् ॥ ४६ ॥  
 नाकारः स्यादनाकारो यस्तुतो निर्विकल्पता ।  
 शेषानन्तगुणानां तद्विषयं ज्ञानमन्तरा ॥ ४७ ॥  
 नन्वभिन् वाग्मनश्च सर्वं सामान्यं च विशेषयत् ।  
 तद्विज्ञानस्यादनाकार किञ्चिन्माकारमेव तत् ॥ ४८ ॥  
 सर्वं सामान्यवद्ज्ञानमर्थाशास्ति विशेषयत् ।  
 यत्सामान्यमनाकारं माकार यद्विशेषभाक् ॥ ४९ ॥  
 ज्ञानादिना गुणा सर्वे प्रोक्तमल्लक्षणाङ्किताः ।  
 सामान्याद्वा विशेषाद्वा मन्यनाकारलक्षणाः ॥ ५० ॥  
 नतोऽवस्तुमज्ञानव्याप्तिर्विकल्पस्य वस्तुन ।  
 तदुद्देश्यं समावेष्ट्य ज्ञानद्वारा निरूपयते ॥ ५१ ॥  
 स्वापूर्वार्थद्वयोरेव प्राक्क ज्ञानमैकज ।  
 नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञाने ज्ञाने परः परः ॥ ५२ ॥  
 स्वापूर्वोद्दि ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमैकं गुणधिनं ।  
 परार्थो स्वात्ममस्वविधगुणा शेषा गुणादयः ॥ ५३ ॥

- तद्यथा मुखदुःखादिभावो जीवगुणस्वयम् ।  
 ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्यादज्ञानं मुग्धादिमत् ॥ ५४ ॥  
 अपि मन्ति गुणाः सम्यक् भ्रष्टानादिविकल्पकाः ।  
 चरेणो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ५५ ॥  
 तत्रोद्देशो यथा नाम भ्रष्टारुचिप्रतीतयः ।  
 चरणं च यथास्नायार्थोत्तत्त्वार्थगोचरम् ॥ ५६ ॥  
 तत्त्वार्थाभिमुग्गी बुद्धिः भ्रष्टा मात्म्यं रुचिस्तथा ।  
 प्रतीतिस्तु तथेति म्यान्वीकारभरणं क्रिया ॥ ५७ ॥  
 अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानम्यैवार्थपर्ययात् ।  
 क्रिया वाक्यायत्ततोभिर्द्वयोपारं शुभकर्मसु ॥ ५८ ॥  
 द्यमनाश्रिते समस्ता वा मद्दृष्टलक्षणं न वा ।  
 मपश्रे वा विपश्रे वा मन्ति यद्वा न मन्ति वा ॥ ५९ ॥  
 स्वानुभूतिसनाथाश्रेत्मन्ति भ्रष्टादयो गुणाः ।  
 स्वानुभूतिं विनाभासा नार्याच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ६० ॥  
 तन्माच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वस्थानुभूतिषु ।  
 न सम्यक्त्वं तदाभामा मिध्याभ्रष्टादिवक्षितः ॥ ६१ ॥  
 सम्यग्मिध्याविशेषाभ्यां विना भ्रष्टादिमात्रकाः ।  
 मपश्रवद्विपश्रेषु धृतिस्त्वाद् द्यमिचारिणः ॥ ६२ ॥  
 अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिभ्रष्टादयो यतः ।  
 मिध्याभ्रष्टादयो मिध्या नार्याच्छ्रद्धादयो यतः ॥ ६३ ॥  
 ननु तत्त्वमिध्या भ्रष्टा भ्रष्टामाश्रैकलक्षणान् ।  
 सम्यग्मिध्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तु बुताऽर्थतः ॥ ६४ ॥  
 नैवं यत समष्ट्यानि भ्रष्टास्वानुभवद्वयोः ।  
 नूनं नानुपलब्धार्थे भ्रष्टा रारविषाणवन् ॥ ६५ ॥  
 विना स्वात्मानुभूतिं तु या भ्रष्टा भुतमाश्रतः ।  
 तत्त्वार्थानुगता यथाच्छ्रद्धा नानुपलब्धतः ॥ ६६ ॥

श्रद्धानादिगुणाः बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।  
 न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ४१ ॥  
 अपि चात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्यपर्ययान् ।  
 अर्थाद्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥  
 यथोद्घाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।  
 वाग्मनः कायचेष्टाणामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ४३ ॥  
 नन्वात्मानुभवः साक्षात्सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम् ।  
 सर्वतः सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात् ॥ ४४ ॥  
 नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः ।  
 अत्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥ ४५ ॥  
 आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।  
 मोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ४६ ॥  
 नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता ।  
 शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ४७ ॥  
 नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सामान्यं च विशेषवत् ।  
 तत्किञ्चित्स्यादनाकार किञ्चित्माकारमेव तत् ॥ ४८ ॥  
 मत्सं सामान्यवद्ज्ञानमर्थाद्यास्ति विशेषवत् ।  
 यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ४९ ॥  
 ज्ञानाद्विना गुणा सर्वे श्रोक्तमल्लक्षणाद्धिताः ।  
 सामान्याद्वा विशेषाद्वा सन्त्यनाकारलक्षणाः ॥ ५० ॥  
 ज्ञानोपक्तुमशक्यत्वाग्निर्विकल्पस्य वस्तुनः ।  
 तद्दुर्लभं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ५१ ॥  
 - - - - - ॥ ५२ ॥  
 - - - - -  
 परार्थाः स्वात्मसम्बन्धिगुणाः शेषाः सुखादयः ॥ ५३ ॥

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणःस्वयम् ।  
 ज्ञानं तद्वैदिकं नूनं नार्थाद्ज्ञानं सुरादिमत ॥ ५४ ॥  
 अपि सन्ति गुणाः सम्यक् भ्रष्टानादिविकल्पकाः ।  
 उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनेत्यते ॥ ५५ ॥  
 तत्रोद्देशो यथा नाम भ्रष्टान्निश्चयतीत्यतः ।  
 चरणं च यथाज्ञायादर्थात्तन्वार्थगोचरम् ॥ ५६ ॥  
 मन्वार्थाभिमुखी बुद्धिः भ्रष्टा मात्म्यं क्वचिन्मया ।  
 प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारभरणं क्रिया ॥ ५७ ॥  
 अर्थादात्मिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवार्थपर्ययात् ।  
 क्रिया वाक्यायंतेभिर्व्यापारं शुभकर्मसु ॥ ५८ ॥  
 व्येस्ताश्चेते ममत्ता वा सदृष्टलक्षणं न वा ।  
 सपञ्च वा विपक्षे वा सन्ति यदा न सन्ति वा ॥ ५९ ॥  
 स्वानुभूतिसनायाश्चेत्सन्ति भ्रष्टादयो गुणाः ।  
 स्वानुभूतिं विनाभामाः नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ६० ॥  
 मस्माच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिषु ।  
 न सम्यक्त्वं तदाभामा मिथ्याभ्रष्टादिवहितः ॥ ६१ ॥  
 सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां विना भ्रष्टादिमात्रकाः ।  
 मपञ्चद्विपक्षेपि क्षुत्तत्वाद् व्यभिचारिणः ॥ ६२ ॥  
 अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्हीष्टभ्रष्टादयो यतः ।  
 मिथ्याभ्रष्टादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥ ६३ ॥  
 ननु तत्स्वरूपिः भ्रष्टा भ्रष्टामात्रैकत्वभ्रष्टात् ।  
 सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तु कुतोऽर्थतः ॥ ६४ ॥  
 नैवं यतः सम्यग्मिथ्याः भ्रष्टारस्वानुभवद्वयोः ।  
 नूनं नानुपलब्धोर्थे भ्रष्टा स्वरूपिणावपि ॥ ६५ ॥  
 विना स्वात्मानुभूतिं तु या भ्रष्टा भुवमाव्रतः ।  
 तद्व्याप्तानुगतान्यथाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥ ६६ ॥



लब्धिः स्याद्विज्ञेपाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् ।  
 नोपलब्धिरेहाख्याता तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥ ६७ ॥  
 ततोस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् ।  
 अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुमृतिवत् ॥ ६८ ॥  
 गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सददृष्टेः प्रशमादयः ।  
 बहिर्दृष्ट्या यथा म्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणम् ॥ ६९ ॥  
 तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमान् ।  
 अनुकम्पा तथात्मिक्यं वक्ष्ये तद्गुणं यथा ॥ ७० ॥  
 प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावकोधादिकेषु च ।  
 लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिद्यिर्ल मनः ॥ ७१ ॥  
 सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।  
 तद्गुणादिविकाराय न युद्धिः प्रशमो मतः ॥ ७२ ॥  
 हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुशब्धिनाम् ।  
 अपि शेषरूपायाणां नूनं मन्दोदयोऽस्तनः ॥ ७३ ॥  
 आरम्भादि क्रिया तस्य देवाद्वा स्यादकामतः ।  
 अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वात्तद्हेतुः प्रशमभते ॥ ७४ ॥  
 सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।  
 अन्यत्र प्रशमं मन्ये प्याभामः स्यात्तदत्ययान् ॥ ७५ ॥  
 संवेगः परमोत्साहो धर्मो धर्मफले चितः ।  
 सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्विषु ॥ ७६ ॥  
 धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धास्यानुभवोऽथवा ।  
 तत्फलं मुख्यमत्यभ्रमभयं क्षायिकं च यम् ॥ ७७ ॥  
 इतरेषु पुनारागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।  
 नातद्गुणानुरागोपि तत्फलम्याप्यत्ययान् ॥ ७८ ॥  
 नाभिजायो निदम्यते ।  
 शेषमधमाद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ७९ ॥

नचाशङ्क्यं निषिद्धः स्यादाभिलाषो भोगेष्वलम् ।  
शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥ ८० ॥

अर्थात्मसोभिलाष स्यान्मिथ्या कर्मोदयात्परम् ।  
स्वार्थम्यार्थक्रियामिद्वयै नाल् प्रत्यक्षतो यत् ॥ ८१ ॥

कषित्तस्यापि सद्भावे नेष्टमिद्विरहेतुत् ।  
अभिलाषस्याभावेऽपि स्वैष्टमिद्विस्तुहेतुत् ॥ ८२ ॥

यशःधीसुतमिथादि सर्वे कामयते जगत् ।  
नाम्य लाभोऽभिलाषेऽपि विना पुण्योदयात्मत ॥ ८३ ॥

जरामृत्युदरिद्रादि नापि कामयन्ते जगत् ।  
तत्संयोगो बलादस्मि सततप्राप्तुभोदयान् ॥ ८४ ॥

संयोगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदस्तु विनापमान् ।  
स्याद्विषभाषशादृष्टेन नार्थादर्धान्तर तयो ॥ ८५ ॥

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणोपधा ।  
संयोगोऽप्यथवा धर्ममाभिलाषो न धर्मवान् ॥ ८६ ॥

नापि धर्मः क्रियामात्र मिथ्यादृष्टेरिहाश्रित ।  
नित्यं रागादिसद्भावात्प्रत्युताऽधर्मस्य हि ॥ ८७ ॥

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यात्प्रत्यात्विदरागवान् ।  
अस्तरागोऽस्ति सदृष्टिर्नित्यं वा स्यात्प्ररागवान् ॥ ८८ ॥

अनुकम्पा कृपा क्षेया सर्वसर्वेष्वनुग्रहः ।  
मैत्रभाषोय माध्यस्थ्य निःशान्य वैश्वजनात् ॥ ८९ ॥

हर्मोदानुदयस्तत्र हेतुसंयोगोऽस्ति हेतवत् ।  
मिथ्याज्ञानं विना न स्वाद्वैरभाषः कषित्तया ॥ ९० ॥

मिथ्या वत्परत स्वार्थ स्वसमाहा परजग्मिनाम् ।  
दृष्टेत्तानुग्रहदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं वनात् ॥ ९१ ॥

अस्ति पर्येतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः मः शक्त्यवान् ।  
अज्ञानाद्यनुवाभापि क्षमो हेतुं न चापरम् ॥ ९२ ॥

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा ।  
 अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनान् ॥ ९३ ॥  
 रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि ।  
 न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥ ९४ ॥  
 आस्तिक्यं सत्त्वसद्भावं स्वतः सिद्धे गतिश्चितः ।  
 धर्मो हेतौ च धर्मस्य फले चात्मादि धर्मयित् ॥ ९५ ॥  
 अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतःसिद्धोऽप्यमूर्तिमान् ।  
 चेतनः स्यादजीवस्तु यावानयस्त्यचेतनः ॥ ९६ ॥  
 अस्त्यात्मानादितो बद्ध. कर्मभिः कार्मणात्मकैः ।  
 कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभागभवेत् ॥ ९७ ॥  
 अस्ति पुण्यं च पापं च तद्वेतुस्तत्फलं च वै ।  
 आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ ९८ ॥  
 अस्त्येवं पर्ययादेशाद्बन्धो मोक्षस्तु तत्फलम् ।  
 अपि शुद्धनयादेशान् शुद्धः सर्वोऽपि सर्वदा ॥ ९९ ॥  
 तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वयंवेद्यश्चिदात्मकः ।  
 मोहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौट्रलिका अमी ॥ १०० ॥  
 इत्याद्यनादिजीवादि धन्तुजातं यतोऽखिलम् ।  
 निश्चयव्यवहाराभ्यामात्मिक्यं तत्तयामतिः ॥ १०१ ॥  
 सम्यक्त्वेनाविनाभूतम्वानुभूत्येकलक्षणम् ।  
 आत्मिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥ १०२ ॥  
 ननु वै फेयलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।  
 न प्रत्यक्षं कदाचित्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ १०३ ॥  
 यदि वा देशतोऽभ्यक्षमाक्ष्यं स्यात्समुत्पादिवन् ।  
 स्वयंवेदनप्रत्यक्षमात्मिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥ १०४ ॥  
 मन्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परमंविदि ।  
 प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृग्मोहोपशमादिभिः ॥ १०५ ॥

स्वात्मानुभूतिमात्रं श्यादाग्नित्वय परमो गुणः ।  
 भवेन्मा वा परद्रुष्ये ज्ञानमात्रे परत्वतः ॥ १०६ ॥  
 अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादी परबन्तुनि ।  
 गाढं प्रतीतिरस्यास्मि यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥ १०७ ॥  
 न तथास्मि प्रतीतिर्वा नास्मि मिथ्यादृशःस्तुष्टम् ।  
 दृग्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सङ्काशताऽर्जिताम् ॥ १०८ ॥  
 ततः मिदमिदं सम्यग्युक्तिश्चानुभवागमात् ।  
 सम्यक्त्वेनाविनाभूत मत्राग्नित्वय गुणो महान् ॥ १०९ ॥

उक्तं च ।

संवेष्टो निष्येष्टो पिदण गरदा य उवसमो भर्षा ।  
 बच्छलं अणुक्षपा अङ्गुणा द्रुति मम्मत्ते ॥ ८ ॥  
 उक्तं शाघार्थमूत्रेपि प्रशमादिषुष्टयम् ।  
 नातिरिक्तं यतोऽन्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ११० ॥  
 अन्वुपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।  
 मत्तयान्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरम्य तन् ॥ १११ ॥  
 यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेष्टो लक्षणं गुणः ।  
 संचोपलक्ष्यते भक्त्या चात्मन्येनाथवाहताम् ॥ ११२ ॥  
 तत्र भक्तिरनौद्यत्यं वाग्बपुश्चेतसां शमात् ।  
 चात्मन्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोदातं मनः ॥ ११३ ॥  
 भक्तिर्वा नाम चात्सत्यं न श्यात्संयोगमन्तरा ।  
 संवेष्टो हि दृशो लक्ष्म द्वाषेतावुपलक्षणौ ॥ ११४ ॥  
 दृग्मोहस्योदयाभावात्प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।  
 तत्रापि व्यञ्जकं बाह्याभिन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ११५ ॥  
 निन्दनं तत्र दुर्वाररागादी दुष्टकर्मणि ।  
 पश्चात्तापकरो बन्धो मोषेद्यो नाप्यपेक्षितः ॥ ११६ ॥

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः ।  
 निष्प्रमादतया नूनं शक्तिः कर्महानये ॥ ११  
 अर्थादेव द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् ।  
 प्रथमस्य कपायाणामनुद्वेकाविशेषतः ॥ ११८  
 शेषमुक्तं यथाश्रायाद् हाठव्यं परमागमान् ।  
 आगमाब्धेः परंपारं माहगन्तुं क्षमः कथम् ॥  
 एवमित्यादिमत्यायं प्रोक्तं सम्यक्त्वलक्षणम् ।  
 कैश्चिद्गुणिकैः मिद्वैः प्रमिद्धं मिद्धसाधनात् ।  
 भवेदर्शनिको नूनं सम्यक्त्वेन युतो नरः ।  
 दर्शनप्रतिमाभासः क्रियावानपि तद्विना ॥ १२  
 देशतः सर्वतश्चापि क्रियारूपं प्रतादि यम् ।  
 सम्यक्त्वेन विना सर्वमग्रतं कुतपश्च तत् ॥ १३  
 ततः प्रथमतोऽवश्यं भाव्यं सम्यक्त्वधारिणा ।  
 अग्रतिनाणुग्रतिना मुनिनाथेन सर्वतः ॥ १२३  
 ऋते सम्यक्त्वभावं यो धत्ते प्रततपःक्रियाम् ।  
 तस्य मिथ्यागुणस्थानमेकं स्यादागमे स्मृतम् ॥  
 प्रकृतोपि नरो नैव मुच्यते कर्मबन्धनात् ।  
 सएव मुच्यतेऽवश्यं यदा सम्यक्त्वमश्नुते ॥  
 किञ्च प्रोक्ता क्रियाप्येषा दर्शनप्रतिमात्मिका ।  
 सम्यक्त्वेन युता चेत्ता तद्गुणस्थानवर्तिना ॥  
 तत्राप्यस्ति विशेषोऽयंतुर्यपञ्चमयोद्भवोः ।  
 योगाद्वा रूढितश्चापि गुणस्थानविशेषयोः ॥ १२४  
 सैवैका क्रिया साक्षादष्टमूलगुणात्मिका ।  
 व्यसनाद्युत्थिता चापि दर्शनेन समन्विता ॥ १२५

एवमेव च सा चेत्यालुलाचारक्रमात्परम् ।  
 विना नियमादि तावत्प्रोच्यते सा कुलक्रिया ॥ १२९ ॥  
 भावशून्याः त्रिया यस्माद्भेदसिद्धौ भवन्ति हि ।  
 त्रियामात्रफलं भवति स्वल्पभोगानुपह्वयम् ॥ १३० ॥  
 दर्शनप्रतिमा नाम्य गुणस्थानं न पञ्चमम् ।  
 केवलं पाक्षिकः स म्याद्रुणम्यानादमयतः ॥ १३१ ॥  
 किञ्च सोऽपि त्रियामात्रान्कुलाचारक्रमागतात् ।  
 स्वर्गादिगम्पदोनुक्त्वाक्रमाद्याति शिवालयम् ॥ १३२ ॥  
 सम्यक्त्वेन विहीनोऽपि नियमनः, प्यथोच्छ्रितः ।  
 योऽपि कुलक्रियासक्तः स्वर्गादिपदभाग्भवेत् ॥ १३३ ॥  
 अथ क्रियां च तामेव कुलाचारोचितां पराम् ।  
 प्रतरूपेण गृह्णाति तदा दर्शनिको मत ॥ १३४ ॥  
 दर्शनप्रतिमा भाम्य गुणस्थानं च पञ्चमम् ।  
 संयतासंयतारुच्यश्च संयमोऽस्य जिनागमात् ॥ १३५ ॥  
 दृग्गोचकादशान्तानां प्रतिमानामनादितः ।  
 पञ्चमेन गुणेनामा व्याप्तिः सार्धायसी स्मृतेः ॥ १३६ ॥  
 ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा ।  
 जैतानां सान्नि सर्वेषामर्थोदप्रतिनार्थाप ॥ १३७ ॥  
 मैवं सति तथा सुर्य-गुणस्थानस्य शून्यता ।  
 नूनं ह्यप्रतिमा यस्माद्गुणे पञ्चमके मता ॥ १३८ ॥  
 नोहं ह्यप्रतिमामात्रमस्तु सुर्यगुणे नृणाम् ।  
 प्रतादिप्रतिमाः शेषाः सन्तु पञ्चमके गुणे ॥ १३९ ॥  
 मैवं सति नियमादावप्रतित्वं कुतोऽर्थतः ।  
 प्रतादिप्रतिमामूह्यैः प्रमित्वानुपह्वतः ॥ १४० ॥  
 ननो विविक्षितं साधु सामान्यात्सा कुलक्रिया ।  
 नियमेन मताथा च दर्शनप्रतिमाभिका ॥ १४१ ॥

किञ्च मूलगुणादीनामादानेऽथापि वर्जने ।  
 समस्ते प्रतिमास्त्याद्या व्यस्तेसति कुलक्रिया ॥ १४२ ॥  
 यथा चैकस्य कस्यापि व्यसनस्योद्भवे कृते ।  
 दर्शनप्रतिमा न स्यात्स्याद्वा साध्वी कुलक्रिया ॥ १४३ ॥  
 यदा मूलगुणादानं यूतादिव्यसनोद्भवनम् ।  
 दर्शनं सर्वतश्चैतन्नयं स्यात्प्रतिमादिमा ॥ १४४ ॥  
 दर्शनप्रतिमायास्तु क्रियाया व्रतरूपतः ।  
 तस्याः कुलक्रियायाश्चाविशेषोप्यस्ति लेशतः ॥ १४५ ॥  
 प्रमादोद्रेकतोवश्यं सदोषाःस्यात्कुलक्रियाः ।  
 निर्दोषाः स्वल्पदोषा वा दर्शनप्रतिमाक्रियाः ॥ १४६ ॥  
 यथा कश्चिन्कुलाचारी यूतादिव्यसनोद्भवनम् ।  
 कुर्याद्वा न यथेच्छायां कुर्यादेव हृगात्मकः ॥ १४७ ॥  
 अथ च पाक्षिको यदा दर्शनप्रतिमान्वितः ।  
 प्रकृतं न परं कुर्यात्कुर्याद्वा वक्ष्यमाणकम् ॥ १४८ ॥  
 प्रामाणिकः क्रमोप्येष ज्ञातव्यो व्रतसंघये ।  
 भावना चागृहीतस्य व्रतस्यापि न दूषिका ॥ १४९ ॥  
 भाषयेद्भावनां नूनमुपर्युपरि सर्वतः ।  
 यावन्निर्वाणसंप्राप्तौ पुंसोवस्थान्तरं भवेत् ॥ १५० ॥

उक्तं च ।

जं सकइ तं कीरइ जं च ण सकइ तदेव सदहणं ।  
 सदहणमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥ ९ ॥  
 यथात्र पाक्षिकः कश्चिदर्शनप्रतिमोऽथवा ।  
 उपर्युपरि शुद्ध्यर्थं यद्यत्कुर्यात्तदुच्यते ॥ १५१ ॥  
 सर्वतोधिरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् ।  
 नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥ १५२ ॥

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो घेऽमवर्तिनाम् ।  
 तथोन्नगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥ १५३ ॥  
 तत्र मूलगुणाद्वाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् ।  
 ऋषिद्वयनिना यस्मात्सर्वमाधारणा इमे ॥ १५४ ॥  
 निसर्गाद्वा कुलाभ्रायादायातान्ने गुणाः स्फुटम् ।  
 तद्विनापि व्रतं यावत्सम्यक्त्यं च गुणोद्भिनाम् ॥ १५५ ॥  
 एतावता विनाप्येव धावको नास्ति नामतः ।  
 किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथ वा ॥ १५६ ॥  
 भक्षमांसमधुत्यागी यथोदुम्भरपञ्चकम् ।  
 नामतः भावकः ह्यतो नान्यथापि तथा गृही ॥ १५७ ॥  
 यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्द्वयसनोन्नतम् ।  
 अथर्वं तद्गतम्यैस्नैरिच्छद्भिः धेयसी क्रियाम् ॥ १५८ ॥  
 त्यजेहोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽनीषारसंज्ञकान् ।  
 अन्यथा भक्षमांसादीन् भावकः कः समाचरेत् ॥ १५९ ॥  
 दानं चतुर्विधं देवं पात्रमुद्धृत्वाथ भक्षया ।  
 जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः धायकोत्तमैः ॥ १६० ॥  
 कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देवं यथोचितम् ।  
 पात्रमुद्धृत्वा निषिद्धं श्यामिषिद्धं न कृपाधिया ॥ १६१ ॥  
 शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि पीडितेभ्योऽनुभोदयाम् ।  
 दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवः ॥ १६२ ॥  
 पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यथा नत्प्रतिमासु च ।  
 स्वरूपजन्ताम् संस्थाप्य सिद्धान्त्यर्चयेत्पुधीः ॥ १६३ ॥  
 सूक्ष्मपाषाणसाधूनां गुरस्तात्पादयोः स्तुतिम् ।  
 प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्म त्रिगुणितः ॥ १६४ ॥

१ तथोन्नगारिणां ते + स्युः सर्वतः स्युः ० चोऽपि ते । + मूलगुणाः । ०  
 उन्नगुणाः । इत्यपि वा पाठः ।



मन्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् ।  
 प्राणिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥ १६५ ॥  
 नारिभ्योपि प्रत्याह्वयान्यो न निषिद्धं जिनागमे ।  
 देयं मन्मानशानादि लोकांनामधिरोधतः ॥ १६६ ॥  
 जिनचैव्यगृह्णादीनां निर्माणे सावधानता ।  
 यथामभ्युत्थेयारित दूष्या नावगलेशतः ॥ १६७ ॥  
 मिद्धानामर्हतां चापि यन्प्राणि प्रतिमाः शुभाः ।  
 चैव्याभयेषु संस्थान्य द्राह् प्रनिष्ठापयेत्सुधीः ॥ १६८ ॥  
 अपि तीर्थादियात्रामु विदुष्याःसोऽप्यं मनः ।  
 भावकः स च क्वापि संयमं न विग्राधयेत् ॥ १६९ ॥  
 जिते नैमिषिके चैत्याजिनविश्वमहोत्सवे ।  
 शैभिन्यं नैव कर्तव्यं तत्पत्तौस्तद्विगेषतः ॥ १७० ॥  
 गयमां द्विविधैश्च विधेयो गृहमेधिभिः ।  
 विनापि प्रतिमास्यं प्रतं यद्वा स्वशास्त्रिनः ॥ १७१ ॥  
 तपो द्वापराभा द्वेषा चाद्याप्यन्तरभेदतः ।  
 कृत्स्नमन्यतमे वा न कार्यं ज्ञानतिर्वीर्यवान् ॥ १७२ ॥  
 उक्तं दिग्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा एहिप्रतम् ।  
 वदये शोणामकाभ्याये मावकाशं भाविभ्यरम् ॥ १७३ ॥

इति श्री कथाप्रज्ञानपरमपरमपरिविद्याविज्ञानपरविष्णुस्मृतिरात्र-  
 ब्रह्मविश्विनायां भावकाशास्त्रकामलाटीसंहितायां  
 भाषुधीं कृता-मन्मानकामनमन मरौत्तारविन्द  
 निजादनेकमाशोकमण्डलायमानायां कर्तव्य-  
 प्रतिमाविकासस्ये कथाप्रज्ञानकामाम्य-  
 क्वाप्यन्यमेतौ नाम कृताः कर्तः ।

## अथ चतुर्थः सर्गः ।

इदमिदं तथ भो वनिजांपते  
 भवतु भावितभावसुदर्शनम् ।  
 विदितफामननाममहामते  
 रसिकधर्मकथामु यथार्थतः ॥ १ ॥

इत्यागीशंदः ।

ननु सुदर्शनस्यैतद्वक्ष्यं स्यादज्ञेपतः ।  
 किमथास्त्यपरं किञ्चद्वक्ष्यं तद्दाद्य नः ॥ १ ॥  
 सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।  
 लक्षणं च गुणध्वाङ्गं शब्दाधैकार्यवाचकाः ॥ २ ॥  
 निःशङ्कितं तथा नामा निःकांक्षितमतः परम् ।  
 विचिकित्मायज्ञं चापि यथादृष्टेरमूढता ॥ ३ ॥  
 उपवृंहणनामाथ सुरियतीकरणं तथा ।  
 यात्सत्यं च यथाम्नायाद्रूपोप्यस्ति प्रभावना ॥ ४ ॥  
 शङ्का भीः साध्वसं भीतिभयमेकाभिधा अमी ।  
 तस्या निष्क्रान्तिनो जातो भाषो निःशङ्कितोर्यतः ॥ ५ ॥  
 अर्थवशाद्य सूत्रार्थे शङ्का न स्यान्मनीषिणाम् ।  
 मूढमान्तरितदूरार्थाः सन्ति चाभिव्यगोचराः ॥ ६ ॥  
 तत्र धर्मादयः मूढमाः मूढमाः कालाणवोऽणवः ।  
 अस्ति मूढमत्वमेतेषां लिङ्गस्याधैरदर्शनान् ॥ ७ ॥  
 अन्तरिता यथा द्वीपसरिप्रायनगाधिषा ।  
 दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥ ८ ॥  
 न स्यान्मिथ्यादृशो हानमेतेषां चाप्यसंशयम् ।  
 संशयाद्य हेतोर्वै ह्यमोहस्योदयात्सतः ॥ ९ ॥

१ इन्द्रियैः । २ अंतर्गता कालविवरणाः, दूरार्थाः देशविवरणाः इति वचनात्तेषु ।

नचाशङ्कयं परोश्राम्ते संदृष्टेर्गोचैराः कुतः ।  
 सैः सह सन्निकर्षस्य सांभ्रिकस्याप्यमम्भयात् ॥ १० ॥  
 अस्ति तत्रापि सम्यक्त्यमाहात्म्यं महतां महत् ।  
 यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ११ ॥  
 नासम्भयमिदं यग्मास्वभायोऽतर्कगोचरः ।  
 अनिशयोऽतिवागमिन् योगिनां योगिशक्तिधत् ॥ १२ ॥  
 अस्ति चान्मपारेच्छेदि ज्ञान सम्यग्दृगात्मनः ।  
 स्वसंयदनप्रत्यक्षं शुद्ध मिद्धास्वदौषमम् ॥ १३ ॥  
 यत्रानुभूयमानोऽपि सर्वैरावालमारगनि ।  
 मिथ्याकर्मविपाकादे नानुभूतिः क्षरीरिणाम् ॥ १४ ॥  
 सम्यग्दृष्टे कुरुष्टेभ्यस्वादुभंदोस्ति वस्तुनि ।  
 न तत्र वान्तयो भेदो यस्तुमीघोऽनतिक्रमात् ॥ १५ ॥  
 अत्र तात्पर्येभ्यैतत्तत्त्वैकत्वेपि यो भ्रमः ।  
 शङ्काया सांजन्यपरमो सांभ्रिमिथ्योपजीविनी ॥ १६ ॥  
 ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् ।  
 सा शङ्कापि कृतो न्यायादास्य मिथ्योपजीविनी ॥ १७ ॥  
 अत्रोत्तरं कुरुष्टियैः स समभिर्भयैर्युत ।  
 नापि स्पृष्टं सुदृष्टियैः सत्रांभः स भयैर्भनात् ॥ १८ ॥  
 परत्रात्मानुभूतेषु प्रेक्षा भीतिः कृतमनी ।  
 भीतिः पर्यायमुद्धाना नात्मनस्त्वेकचेतनात् ॥ १९ ॥  
 ततो भीत्यानुभवास्ति मिथ्या भाषो त्रिनागमात् ।  
 सा च भीतिरक्षय स्यादेतो स्वानुभवज्ञते ॥ २० ॥  
 अस्ति सिद्धं परावर्तो भीत स्वानुभवव्युतः ।  
 स्वस्थस्य स्वादिष्टास्तिवन्नूनं भीतिरमास्वयात् ॥ २१ ॥  
 ननु अस्ति चतस्रोपि बीजात्मन्यास्य कस्यापि ।  
 अथाह ननु स्यादिति च्छेदस्यानास्ति वगम्भयात् ॥ २२ ॥

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।  
 अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रमत्तवान् ॥ २३ ॥  
 सत्यं भीतोऽपि निर्भीकस्तत्त्वामित्याद्यभावतः ।  
 रूपिद्रव्यं यथा चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ २४ ॥  
 भन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।  
 मुह्यन् रज्यन् द्विपंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥ २५ ॥  
 एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनान् ।  
 देशतोऽप्यत्र मूर्च्छायां शङ्काहेतोरमम्भवान् ॥ २६ ॥  
 स्यात्संशयान्नं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।  
 येन कर्मापि कुर्याज्जो कर्मणा नोपयुज्यते ॥ २७ ॥  
 तत्र भीतिरिहामुत्रलोके वा घेदनाभयं ।  
 चतुर्थी भीतिरत्राणं स्याद्गुणस्तु पञ्चमी ॥ २८ ॥  
 भीतिः स्याद्वा तथा मृग्युर्भीतिराकस्मिन्की ततः ।  
 श्रमादुद्देशिताश्चेति समैताः भीतयः स्मृताः ॥ २९ ॥  
 तत्रेह लोफनो भीति कन्दितं चात्रजन्मनि ।  
 इष्टार्थस्य व्ययो माभून्मा भेऽनिष्टार्थसङ्गमः ॥ ३० ॥  
 स्याद्यतीदं धनं नो वा देवान्माभूदरिद्रता ।  
 इत्याद्याधिभ्रता दग्धुं उच्यन्तेषाऽदृगात्मनः ॥ ३१ ॥  
 अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः कश्चिन् ।  
 यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषानयोर्महान् ॥ ३२ ॥  
 अज्ञानी कर्म नोऽकर्म भावकर्मात्मकं च यन् ।  
 मनुतेऽहं सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवन् ॥ ३३ ॥  
 विश्वाद्भिन्नोऽपि विश्वं स्वं कुर्यात्प्रामाण्यमात्मदा ।  
 भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोग्रहति जातुषिन् ॥ ३४ ॥  
 तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणां पाकसम्भवात् ।  
 नित्यं पुष्पा शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमपैति सः ॥ ३५ ॥

सम्यग्दृष्टिः सदेकत्वं स्वं समासादयन्नियन् ।  
 यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्चुद्धमभ्येति चिन्मयम् ॥ ३६ ॥  
 शरीरं मुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।  
 अनित्यं कर्मकार्यत्वादम्बरूपमवैति यः ॥ ३७ ॥  
 लोकोपं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति मोर्धतः ।  
 नापरो लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोस्ति मे ॥ ३८ ॥  
 आत्ममंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः ।  
 इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनान् ॥ ३९ ॥  
 परलोकः परात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् ।  
 तत्र कम्प इव ग्रामो भीतिः परलोकतोस्ति सा ॥ ४० ॥  
 भद्रं चेन्नम स्वर्लोके माम्न्मे जन्म दुर्गतौ ।  
 इम्याणाशुलितं धतः माभ्यमं पारलौकिकम् ॥ ४१ ॥  
 मिथ्यादृष्टेस्तदेषांमि मिथ्याभावेककारणान् ।  
 तद्विषयस्य सददृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययान् ॥ ४२ ॥  
 बहिर्दृष्टिर्नात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः ।  
 स्वं मामामादयन्तः कर्म कर्मफलत्मकम् ॥ ४३ ॥  
 ततो नित्य भयाकान्तं वनेने भान्तिमानिय ।  
 मनुते मृगतृणायामम्भोभारं जनः कृधीः ॥ ४४ ॥  
 अन्तरात्मा तु निर्भीकः पद निर्भयमाभितः ।  
 भीतिहेतोरिहावश्य मिथ्याभान्तेरमम्भयात् ॥ ४५ ॥  
 मिथ्याभान्तियेदृश्यत्र दतोते वाच्यवमनुनः ।  
 यथा रज्जो तमोहेतोः सर्वाभ्यामादृश्यव्यर्थाः ॥ ४६ ॥  
 स्वयंरेदृश्यव्यभं व्योभियौ संख्यनन्यमात् ॥  
 स विभेति कृतो न्यायाद्व्यथाभवतादपि ॥ ४७ ॥  
 वेदनागन्तुच्छा वाता मथानां कोपनात्तनी ।  
 भीतिः प्रागेव कथोदग्या मोक्षता परिदेवन्म् ॥ ४८ ॥

उल्लापोऽहं भविष्यामि मामून्मे वेदना क्वचित् ।  
 मूर्च्छैव वेदना भीतिश्चित्तं वा मुहुर्मुहुः ॥ ४९ ॥  
 अस्ति नूनं कुट्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।  
 नीरोगस्यात्मनो ज्ञानात् स्यात्सा ज्ञानिनां क्वचित् ॥ ५० ॥  
 पुद्गलाद्भिन्नचिदाज्ञो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।  
 व्याधिः सर्वः शरीरस्य नामूर्त्तस्येति चिन्तनात् ॥ ५१ ॥  
 स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाषिषु ।  
 नादरो यस्य सोम्यर्याभिर्भीको वेदनाभयान् ॥ ५२ ॥  
 व्याधिस्थानेषु तेषूचैर्नासिद्धो नादरो मनाक् ।  
 बाधाहेतोः स्वतन्त्रेषामामपरयाविशेषतः ॥ ५३ ॥  
 अत्राणं क्षणिकैकान्तं पक्षे चित्तश्रणादिषु ।  
 नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमश्रमतात्मनः ॥ ५४ ॥  
 भीतिः प्रागंशनाशात्प्रागंशनाशभ्रमोन्वयान् ।  
 मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोस्ति सा ॥ ५५ ॥  
 शरणं पर्ययस्यास्तंगतम्यापि सदन्ययम् ।  
 तमनिच्छन्निवाहः स श्रमोस्त्वप्राणसाध्वसान् ॥ ५६ ॥  
 सदृष्टदृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणे नष्टे चिदात्मनि ।  
 पश्यन्न नष्टमात्मानं निर्भयो प्राणभीतितः ॥ ५७ ॥  
 द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।  
 नाप्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्भीमहात्मनः ॥ ५८ ॥  
 दृग्मोहरयोदयाद्बुद्धिर्यग्यैकान्तादिषादिनः ।  
 तस्यैवागुमिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य त्रातुषु ॥ ५९ ॥  
 असञ्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः ।  
 योऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छातोऽगुप्तिसाध्वसान् ॥ ६० ॥  
 सम्बन्धदृष्टिस्तु स्वं रूपं गुप्तं चैव त्रस्तुनो विदन् ।  
 निर्भयोऽगुप्तितो भीतेर्भीतिहेतोरसम्भवान् ॥ ६१ ॥

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवाग्निन्द्रियं मनः ।  
 निधासोच्छ्वासमायुश्च दसैते वाक्यविद्यारान् ॥ ६२ ॥  
 तद्धीतिर्जीवितं भूयान्माम्भ्यं मरणं क्वचिन् ।  
 कदा लेभे न वा दैवादित्याभिः स्वे तनुष्यये ॥ ६३ ॥  
 नूनं तद्धीः कुट्टीनां नित्यं तत्त्वमानच्छताम् ।  
 अन्तस्तस्वैकपृष्ठानां तद्धीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ ६४ ॥  
 जीवस्य श्वेतना प्राणा नूनं स्वात्मोपजीविनी ।  
 नार्थान्मृत्युरतस्तद्धी कुतः स्यादिति पश्यतः ॥ ६५ ॥  
 अकस्मात्जातमित्युक्त्वाकस्मिन्नकभयं स्मृतम् ।  
 तद्यथा विपुदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ६६ ॥  
 भीतिं भूयाद्यथा सौरभ्यं माभूरीभ्यं कदापि मे ।  
 इत्येव मानसीं विनापर्याकुलितचेतमाम् ॥ ६७ ॥  
 अथांशकृष्णकृष्णान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।  
 कृत्वा यथाऽस्ति तद्धीनेर्निर्भीकैकपत्न्युते ॥ ६८ ॥  
 निर्भीकैकपदो जीव स्यादनन्तोऽयनादिमान् ।  
 नाम्न्याकर्मिक तत्र कुतस्तद्धीस्त्वमिच्छत ॥ ६९ ॥  
 काश्चा भोगाभिन्दायः स्यात्कृतं मुख्यकियामु वा ।  
 कर्मणि तत्कृते स्यात्कृतं मुख्यकियामु वा ॥ ७० ॥  
 इतीहा कर्मिण्युक्त्वाऽङ्गो विपश्ये यः ।  
 स स्याद्भोगाभिन्दायश्च तिष्ठ स्वप्राप्यंरजतान् ॥ ७१ ॥  
 तज्या न रतिं पञ्च विपञ्च वारतिं विना ।  
 नरतिर्ना स्वपञ्चिं तद्विपञ्चरतिं विना ॥ ७२ ॥  
 रतिं देवीं यथा कस्मिन्पुण्यशरीरे सतीहते ।  
 नेऽदेवपुण्यमप्यसौमपुण्यमप्यसौमिन्द्रियपुण्यं ॥ ७३ ॥  
 यम्यतेन काश्चितो भाषो नूनं मिथ्याऽङ्गमिन्द्रियं सा ।  
 यम्यतेन स कर्तुः पुण्यस्यः नृभवप्राप्तये ॥ ७४ ॥

आन्ताभिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः ।  
 स्वार्थमार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नाभैहिकापि सा ॥ ७५ ॥  
 निस्सारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।  
 जन्तोस्त्नमत्तवच्चापि धार्द्धेर्वातोत्तरद्भवत् ॥ ७६ ॥  
 ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते ।  
 भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं प्रवमाचेरत् ॥ ७७ ॥  
 नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियाया फलमद्वयम् ।  
 शुभमात्रं शुभाया स्यादशुभायाश्चाशुभावहम् ॥ ७८ ॥  
 नचाशङ्क्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् ।  
 दर्शनातिशयाद्देतोः मरगोपि विरागवत् ॥ ७९ ॥  
 सरागे धीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।  
 अस्ति बन्धफलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥ ८० ॥  
 नच धार्यं स्यात्सद्दृष्टिः कश्चित्प्रज्ञापराधतः ।  
 अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ॥ ८१ ॥  
 यतः प्रज्ञाधिनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् ।  
 तस्याश्चाभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृष्टा ॥ ८२ ॥  
 नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति धानिच्छतः क्रिया ।  
 शुभायाश्चाशुभायाश्च धो विशेषो विशेषमाह् ॥ ८३ ॥  
 नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः क्रिया ।  
 विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः कथम् ॥ ८४ ॥  
 तत्क्रिया प्रतरूपा स्यादर्यान्तानिच्छतः स्फुटम् ।  
 तस्याः स्वतंत्रसिद्धत्वात्सिद्ध कर्तृत्वमर्थसान् ॥ ८५ ॥  
 नैवं यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।  
 तन्मात्राकांक्षते ज्ञानी यावत्कर्म च तत्फलम् ॥ ८६ ॥  
 यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसान् ।  
 तन्मर्षं दृष्टिदोषत्वात्पीतशंखाबलोफवन् ॥ ८७ ॥



हम्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षाद्भूतार्थदर्शिनी ।  
 तस्यानिष्टेऽस्मिन्निष्ठार्थबुद्धिः कर्मफलत्मके ॥ ८८ ॥  
 नचासिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च ।  
 सर्वतो दुःखहेतुत्वाद् युक्तिस्थानुभवागमात् ॥ ८९ ॥  
 अनिष्ठार्थफलत्वात्स्यादनिष्ठार्था प्रवक्तव्या ।  
 दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतुदुष्टोपदेशवत् ॥ ९० ॥  
 अथसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलान् ।  
 ज्ञाते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याग्राह्यमभयो मगः ॥ ९१ ॥  
 यावद्दशीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चान्मनः ।  
 यावत्प्रयत्नित क्रिया नाम तावन्वीदयिक्ती स्मृता ॥ ९२ ॥  
 पौरुषं न यथाकामं पुंसः कर्मोदित प्रति ।  
 न परं पौरुषाणोर्भो देवापेक्षां हि पौरुषम् ॥ ९३ ॥  
 मिद्धो नि क्वांक्षितो ज्ञानी कृषाणोऽप्युदितो क्रियाम् ॥  
 निष्कामतः कृते कर्म न रागाद्य विरागिणाम् ॥ ९४ ॥  
 नासङ्गं चाम्नि निःक्वांक्षः मामान्योऽपि जनः कश्चिन् ।  
 हेतोः कृतभिर्दृश्यत्र दर्शनानिशयादपि ॥ ९५ ॥  
 यतो निःक्वांक्षिता नाम्नि श्यायात्तदर्शनं विना ।  
 नानिष्ठात्प्राप्तौ भौदये तद्व्यभामनिष्ठतः ॥ ९६ ॥  
 तद्व्यभामुत्तं मोहाभिमन्व्यात्प्रिः न नेदयति ।  
 हम्मोहस्य तथा पाचशक्तेः सङ्गावर्षोऽनिसाम् ॥ ९७ ॥  
 ज्ञाते नि क्वांक्षितो भावो गुणो महशनस्य वै ।  
 अन्नु का नः क्षति प्रादु चैत्यरीप्ताक्रमता मता ॥ ९८ ॥  
 अथ निर्विचिच्छिन्नात्पुणो गुणो महद्वने मय ।  
 महशनगुणस्यैवेगुणो युष्टिगतादिति ॥ ९९ ॥  
 अन्मन्यत्तमगुणोऽप्येव बुद्ध्या श्यामप्रशंसमानम् ।  
 परमन्वयवर्द्धये कृदिर्विचिच्छिन्ना स्मृता ॥ १०० ॥

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।  
गुणः सदृशनस्योच्चैर्बक्ष्ये तद्वक्ष्यं यथा ॥ १०१ ॥  
दुर्देहाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासातापृणास्पदे ।  
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥ १०२ ॥  
नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्यग्दां पदम् ।  
नासावस्मत्समो दीनो घराको विपदां पदम् ॥ १०३ ॥  
प्रत्युत ज्ञानमेवतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।  
प्राणिनः सदृशः सर्वं त्रसस्थावरयोनय ॥ १०४ ॥  
यथा द्वाधर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तयोदरान् ।  
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतं भेदभ्रमात्मना ॥ १०५ ॥  
जले जंघालवञ्जीवे यावत्कर्माशुचि स्मृतम् ।  
अहं ते चाविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः ॥ १०६ ॥  
अस्ति महर्शनस्यसौ गुणो निर्विचिकित्सकः ।  
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥ १०७ ॥  
कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः ।  
सद्दिग्गेषुऽपि संमोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धतः ॥ १०८ ॥  
इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सदृशनस्य यः ।  
नाधिवभोपि दापाय धिवभो न गुणाप्रये ॥ १०९ ॥  
अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी ।  
ययालहृत्तमात्रं सद्भाति सदृशनं नेरि ॥ ११० ॥  
अतस्त्वे तत्त्वभद्धानं मूढदृष्टिः स्वलभणाम् ।  
नास्ति मा यस्य जीवस्य विद्यातः मोह्यमूढदृष्ट् ॥ १११ ॥  
अस्त्यसद्देतुदृष्टान्तैर्भिष्यार्थः साधितोऽपैरैः ।  
नाप्यलं तत्र मोहाय हग्मोहस्योदयक्षतेः ॥ ११२ ॥  
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।  
नाल्पभ्रुतः समुद्येत किं पुनभेद्भ्रुतः ॥ ११३ ॥

अर्थाभामेपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेन मूढता ।  
 स्थूलानन्तरितोपात्तमित्यर्थेऽस्य कुतो भ्रमः ॥ ११४ ॥  
 तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नाना विकल्पमात् ।  
 निःसारैराश्रिता पुंभिरथानिष्टफलप्रदा ॥ ११५ ॥  
 अफला कुफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।  
 दुस्त्याज्या लौकिकी रूढि कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥ ११६ ॥  
 अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह ।  
 अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवविमूढता ॥ ११७ ॥  
 कुदेवाराधनां कुर्यादैहिकश्रेयसे कुर्धः ।  
 मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥ ११८ ॥  
 अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकरूढिवशादिह ।  
 धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताम्बिका ॥ ११९ ॥  
 अपरेपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः ।  
 सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥ १२० ॥  
 नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः ।  
 लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निस्मारं प्रयविस्तरम् ॥ १२१ ॥  
 अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः ।  
 तैः प्रणोतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतनाम् ॥ १२२ ॥  
 कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।  
 सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुव्यतः ॥ १२३ ॥  
 अत्रोद्देशोपि न श्रेयान्सर्वतोऽतीवविस्तरात् ।  
 आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्तएव सः ॥ १२४ ॥  
 दोषो रागादिचिद्भावः स्यादाशरणं च कर्म तत् ।  
 तयोरभावोस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ १२५ ॥  
 अस्त्यत्र केवलं शानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।  
 यीयं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ १२६ ॥





नन्वाहुतिद्वयं कर्म दीर्घद्विष्वंसि कर्म तत् ।  
 अरितं तत्राप्यवश्यं च सुतं दुःखत्वमत्र खेत् ॥ १५३ ॥  
 मन्त्रं विन्तु विशेषेण प्रोक्तकर्मप्रयत्नं च ।  
 मोहकर्मविनाभूतं बन्धमरपोदयभयम् ॥ १५४ ॥  
 तद्यथा बन्धमानेभ्यस्तद्बन्धो मोहकर्मवशात् ।  
 तत्सत्त्वे सत्त्वमेतद्यथा च पाकं पाकं क्षयं क्षयं ॥ १५५ ॥  
 मोहो ह्यसामान्यवशात्सामान्यवशात्सु तत्क्षयः ।  
 अज्ञानमोहोऽयमज्ञानात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥ १५६ ॥  
 नामिदं निर्जरा तद्वत् सद्दृष्टं हृत्तनकर्मणाम् ।  
 आत्ममोहोदयाभावात्तदासत्त्वगुणा जगत् ॥ १५७ ॥  
 तत्र कर्मप्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि सांप्रतम् ।  
 रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुणा मता ॥ १५८ ॥  
 अथात्मैकं स सामान्यात्मद्विशेषात्त्रिधा मतः ।  
 एकोऽप्यभिप्रेयसा लक्षणं पापयोऽदार्ढ्यस्त्रिधाप्यते ॥ १५९ ॥  
 आचार्यं स्यादुपाध्यायं साधुश्चेति त्रिधा मतिः ।  
 स्युर्बिदिष्टपदारूढाश्चोपि मुनिबुध्नराः ॥ १६० ॥  
 एको हेतुः त्रियाप्येका विधश्चैको बहिः समः ।  
 तपो द्वादशधा चैकं प्रत चैकं च पञ्चधा ॥ १६१ ॥  
 त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा ।  
 मूलोत्तरगुणाश्चैका संयमोऽप्येकधा मतः ॥ १६२ ॥  
 परीषद्दोषसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।  
 आहारादिविधिश्चैकश्चैवात्थानामनादयः ॥ १६३ ॥  
 मार्गो मोक्षस्य सदृष्टिः ज्ञानं चारित्रप्रमात्मनः ।  
 रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिर्हितम् ॥ ६४ ॥

ध्याता ध्यानं च ध्येयम् ज्ञाता ज्ञानं च श्रेयसात् ।  
 चतुर्विधाराधनापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ १६५ ॥  
 क्रियात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽप्यशिक्ष्यते ।  
 विशेषाच्छेषनि शेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ १६६ ॥  
 आचार्योऽनादितो रूढे र्योगादपि निरुच्यते ।  
 पश्चाच्चारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ १६७ ॥  
 अपि छिन्नं प्रते साधो पुनः सन्धानमिच्छतः ।  
 तः समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥ १६८ ॥  
 आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् ।  
 आदेशे गुरुणा दत्त नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ १६९ ॥  
 न निर्णयस्तदादेशो गृहिणा प्रतधारिणाम् ।  
 दीक्षाचार्येण दीक्षेत्रं दीयमानान्तं तत्क्रिया ॥ १७० ॥  
 छेदोपाभावेन चात्र क्रियतेऽन्येन तेन वा ॥  
 न निर्णयत्वा यथाज्ञानाद्गमिनां मन्त्राणि ।  
 द्विगच्छन्त्यापदेशाति नोपयुक्त्यात्र कारणात् ॥ १७१ ॥  
 मुनिमन्त्रपरिणामा वा गृहस्थमन्त्रधारिणाम् ।  
 आदेशज्ञानं देवा वा न कर्तव्या अपिश्रितः ॥ १७२ ॥  
 नशाशङ्क्यं प्राग्दत्तं यन्मुनिभिर्मन्त्रधारिभिः ।  
 मुनिमन्त्रशक्तिमयं स्यात्प्रत्येवदर्शनम् ॥ १७३ ॥  
 नूनं प्रोक्तोपदेशाति न रागाद्य विरागिणाम् ।  
 शक्तिणामेव रागाद्य नतोऽप्यस्य स वर्जितः ॥ १७४ ॥  
 न निर्णयः स आदेशो नोपदेशो निर्णयितः ।  
 नूनं सवाग्रदानेषु पुराणामहंतामपि ॥ १७५ ॥  
 वेदादेशोपदेशौ नो नो दौ निरवगच्छतीति ।  
 यत्र मानवसंशयोपि तथादेशो न जानीष्यत् ॥ १७६ ॥

सहासंयमिभिलोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् ।  
 कुर्यादाचार्य इत्येकेनासौ सूरिर्नर्चाहृतः ॥ १७७ ॥  
 संप्रसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।  
 धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ १७८ ॥  
 यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।  
 तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्भ्रताच्छ्रुतः ॥ १७९ ॥  
 इत्युक्तप्रतपःशीलसंयमादिधरो गणी ।  
 नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥ १८० ॥  
 उपाध्यायः स साध्वीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।  
 वाग्मी वाग्भ्रष्टसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ १८१ ॥  
 ऋषिः प्रत्यक्षसूत्राणां शब्दाधिः सिद्धसाधनात् ।  
 गमकोऽर्धस्थ माधुर्ये धुर्यो घनृत्ववर्त्मनाम् ॥ १८२ ॥  
 उपाध्यायस्त्वमित्यत्र भ्रुताभ्यामोस्ति कारणम् ।  
 यद्ध्येति स्वयं चापि शिष्यान्ध्यापयेदगुरुः ॥ १८३ ॥  
 शेषस्तत्र प्रतादीना सर्वसाधारणो विधिः ।  
 कुर्याद्वर्णोपदेशं स नादेशं सूरिषत्कचिन् ॥ १८४ ॥  
 तेषामेवाभ्रमं लिङ्गं सूरिणां सयमं तपः ।  
 आभ्रयन् शुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधी ॥ १८५ ॥  
 मूलोत्तरगुणानेष ययोःप्रनाचरोऽपरम् ।  
 परिपश्योपमर्गाणां विजयी स भवेद्भूषम् ॥ १८६ ॥  
 अत्रानिद्विस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुने ।  
 शुद्धवेषधरो धारो निर्घन्धः स गणापणी ॥ १८७ ॥  
 उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः ।  
 अधुना माध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥ १८८ ॥  
 मार्गं मोक्षस्य चारित्र्यं सदृशमिपुरस्मरम् ।  
 साधयत्यात्मसिद्धयर्थं साधुरन्वयसंज्ञकः ॥ १८९ ॥



नोचे धाचंयमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया ।  
 न किञ्चिद्दर्शयेत्स्यस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १९० ॥  
 आस्तं न शुद्धमात्मानमास्तिधुवानश्च परम् ।  
 स्तिर्मितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥ १९१ ॥  
 नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत्स मनागपि ।  
 स्वर्गाप्यर्गमार्गस्य तद्विषयस्य किं पुनः ॥ १९२ ॥  
 वैराग्यस्य परा काष्ठाभिरूढोऽधिकप्रमः ।  
 दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ १९३ ॥  
 निर्मन्थोन्तर्बहिर्मोहमन्थेरुन्मन्थको यमी ।  
 कर्मनिर्जरक श्रेण्या तपस्वी न तपःशुचिः ॥ १९४ ॥  
 परिपहोपमर्गागैरजन्वो जितमन्मथः ।  
 एषणाशुद्धिमंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ १९५ ॥  
 इत्याशनेरुधाऽनेके साधुः साधुगुणैः श्रितः ।  
 नमस्य श्रेयसेऽयस्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ १९६ ॥  
 एष मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि ।  
 तद्विशुद्धिविशेषास्त क्रमात्तरतमात्मकः ॥ १९७ ॥  
 तत्राचार्यं प्रसिद्धांस्ति दीक्षादेशाद्मणामणीः ।  
 न्यायाद्वा देशतोऽप्यश्राव मिद्धं स्वात्ममन्थतत्परः ॥ १९८ ॥  
 अर्धात्प्रान्तपरोऽप्येय दमोहानुदयात्गतः ।  
 अस्ति नेताधिनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ १९९ ॥  
 अन्यस्मिन् देशतस्मिन् च धारित्रावरणश्रुतिः ।  
 याक्यार्थान् केवलं न श्यान्श्रुतिर्वापि तदश्रुतिः ॥ २०० ॥  
 तथापि न वदित्वंस्तु श्यान्श्रुतुरहेतुतः ।  
 अग्न्युपदानहेतोश्च तन्श्रुतिर्वा तदश्रुतिः ॥ २०१ ॥

१ " नोऽप्यन् " इत्यसिद्धः । २ साधुः " सर्ववर्ग " इति न पुनरे  
 वः । ३ चार्त्तशुद्धिः । ४ मन्थना ।

संति संश्वलनस्योच्चैः स्पर्द्धकाः देशपातिनः ।  
 तद्विपाकोम्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद्द्वयोः ॥ २०२ ॥  
 संश्लेशस्तत्प्रतिनूनं विदुद्विस्तु तदक्षतिः ।  
 मोपि मरतमस्यांशैः साप्यनेकैरनेकधा ॥ २०३ ॥  
 अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।  
 तथाप्येतावताचार्यं भिद्यो नात्मन्यतत्परं ॥ २०४ ॥  
 तत्रावश्यं विदुद्वयंश्लेषां मन्दोदयादिह ।  
 संश्लेशांशोऽथवा सांप्रोदयाभायं विधिः स्मृतः ॥ २०५ ॥  
 किन्तु द्वादिदुद्वयंश्लेषां संश्लेशांशोष वा क्वचित् ।  
 तद्विदुद्वेर्विदुद्वयंश्लेषां संश्लेशांशादय पुनः ॥ २०६ ॥  
 तेषां सांप्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः ।  
 सर्वतश्चेत्प्रकोर्षा च नापराधोऽस्त्यतोपरः ॥ २०७ ॥  
 तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।  
 कर्तुं न शक्यते यन्मादशास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ २०८ ॥  
 हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञानं शमो मिथ्यात्वकर्मणः ।  
 प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरामन्तस्य व्यत्ययान् ॥ २०९ ॥  
 ह्यमोहेऽन्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् ।  
 न भवेद्विप्रकर, कश्चिच्चारिप्रावरणोदयः ॥ २१० ॥  
 नचाकिञ्चित्करश्चैवं चारिप्रावरणोदयः ।  
 ह्यमोहस्य क्षतेनालमर्लं स्वस्य कृते च यः ॥ २११ ॥  
 कार्यं चारिप्रमोहस्य चारिप्राच्युतिरात्मनः ।  
 नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्याप्यादितरदृष्टिबन् ॥ २१२ ॥  
 यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कर्म्यधिदैवयोगतः ।  
 इतरप्राधत्वापेऽपि दृष्टाभ्यक्षान्न सत्क्षतिः ॥ २१३ ॥

कपायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि ।  
 नानुद्रेकः कपायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ २१४ ॥  
 ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः ।  
 नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृग्मोहस्योदयादते ॥ २१५ ॥  
 अथ सूरिरुपाध्यायः द्वावेतौ हेतुतः समौ ।  
 साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ २१६ ॥  
 नापि कश्चिद्विशेषोस्ति द्वयोस्तरतमो मिथः ।  
 नैताभ्यामन्तरुत्कर्षं साधोरप्यतिशयानान् ॥ २१७ ॥  
 लेशतोस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिः कृतः ।  
 का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धिसमन्वितः ॥ २१८ ॥  
 नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमान् ।  
 मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ २१९ ॥  
 प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः ।  
 जघन्यमध्यमोत्कृष्टभैश्चैकैकशः पृथक् ॥ २२० ॥  
 कश्चित्सूरिः कदाचिद्द्वै विशुद्धिं परमां गतः ।  
 मध्यमां वा जघन्यां वा स्वोचितां पुनराश्रयेत् ॥ २२१ ॥  
 हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्द्धकाः क्षणम् ।  
 धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः कश्चित् ॥ २२२ ॥  
 परिपाठ्यानया योग्याः पाठकाः साधवश्च ये ।  
 न विशेषो यतस्तेषां नियतः शेषो विशेषभाक् ॥ २२३ ॥  
 ननु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः ।  
 हेतोरभ्यन्तरस्यापि याह्यं हेतुर्बहिः कश्चित् ॥ २२४ ॥  
 नैवमर्थाद्यतः सर्वं बस्त्वकिञ्चित्करं बहिः ।  
 तत्पदं फलबन्मोहादिच्छतोऽप्यान्तरं परम् ॥ २२५ ॥  
 किं पुनर्गणितस्तस्य सर्वतोनिच्छतो बहिः ।  
 धर्मादेशोपदेशादिसर्वपदं तत्फलं च यन् ॥ २२६ ॥

नास्यानिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादिकर्मणि ।  
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुषिन् ॥ २२७ ॥  
ननुनेहांविनाकर्म, कर्मनेहां विना क्वचित् ।  
साम्राज्यादीदितं कर्म स्यादक्षार्थम्नु वा नवा ॥ २२८ ॥  
नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु ।  
घन्धम्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसम्भवः ॥ २२९ ॥  
ततोऽस्त्यन्त कृतो भेदः शुद्धेनांशाशतस्त्रिषु ।  
निर्बिणोपात्ममस्त्वेष पक्षो भाभूद्वाहि कृत ॥ २३० ॥  
किञ्चास्त्रि यौगिकी रूदि. प्रसिद्धा परमागमे ।  
विना साधुपदं न स्यात्केवलोपतिरुज्जमा ॥ २३१ ॥  
तत्राकृतीभेदं सम्यक् माक्षान्मर्षार्थदार्ढ्यनि ।  
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ २३२ ॥  
यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि ।  
कृन्तन्चिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ २३३ ॥  
तत मिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।  
नूनं बाह्योपयोगम्य नावकाशोस्ति तत्र यन् ॥ २३४ ॥  
न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापना वरंम् ।  
प्रागाद्याय क्षणं पश्चात्सूरि साधुपदं भयेत् ॥ २३५ ॥  
उक्तं दिग्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुणलक्षणम् ।  
शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्त्वरूपं जिनागमान् ॥ २३६ ॥  
धर्मो नीचपदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।  
तत्रांजवज्रवो नीचैः पदमुच्चैस्तदर्थैः ॥ २३७ ॥  
सम्यग्दृष्टान्निवारित्रं धर्मो रत्नत्रयात्मकः ।  
तत्र महर्षानं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ २३८ ॥  
तत सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।  
महक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्ताद्विना क्वचित् ॥ २३९ ॥

रुदितौधियपूर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।  
 तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ २४० ॥  
 सा द्विधा म च सागारानागाराणां विशेषतः ।  
 यतः क्रियाविशेषत्वाच्चूनं घर्मो विशेषतः ॥ २४१ ॥  
 तत्र हिंसानृतस्तेयात्रद्व्यकृत्स्नपरिग्रहात् ।  
 देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुप्रतम् ॥ २४२ ॥  
 यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः ।  
 नात्राप्यन्यसरेणोना नातिरिक्त्वा कदाचन ॥ २४३ ॥  
 सर्वैरेव समस्तैश्च सिद्ध यावन्मुनिव्रतम् ।  
 न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशत्रयादपि ॥ २४४ ॥

उक्तं च ।

वंद समिदिदियरोधो लोचो आवसयमचेलमन्हाणं ।  
 खिदिसयणमदंतवणं ठिदभोयणमेयभत्ते च ॥ २४५ ॥  
 एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जिनशासने ।  
 लक्षणां चतुरशीतिगुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥ २४६ ॥  
 ततः सागारधर्मोवाऽनगारो वा यथोदितः ।  
 प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राविशेषतः ॥ २४७ ॥  
 उक्तमस्ति क्रियारूपं व्योसाद्रतकदम्बकम् ।  
 सर्वसाधययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥ २४८ ॥  
 अथाजैनोपदेशायमस्त्यादेशः स एव च ।  
 सर्वसाधययोगस्य निवृत्तिव्रतमुच्यते ॥ २४९ ॥  
 सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्बर्तिपदार्थतः ।  
 प्राणोच्छेदो हि साधये सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ २५० ॥  
 योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते ।  
 सूक्ष्मत्राबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥ २५१ ॥

१ इत्यनि समितयः इदियनिरोधाः लोचः आक्षर्यज्ञानि मचेलं अस्तानम् ।  
 खिदिसयनं, धिनभोजनं एकभुक्तं च । २ विष्णारात् ।

अदंतवत्तरोः



नूनं सदृशनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।  
 समस्तैरेव न व्यस्तैस्तक्ति चारित्रमात्रया ॥ २६५ ॥  
 सत्यं सदृशनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मियः ।  
 त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ २६६ ॥  
 किञ्च सदृशनं हेतुः संविद्यारित्रयोर्द्वयोः ।  
 सम्यग्भिवशेषणस्योच्चैर्दृढा प्रत्यप्रजन्मनः ॥ २६७ ॥  
 अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् ।  
 भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥  
 शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यालब्धिज्ञानातिशायिनी ।  
 सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभावोयवापि च ॥ २६९ ॥  
 यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृष्ट् ।  
 न तद्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥  
 तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् ।  
 मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥  
 बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समामाप्शनकोविदैः ।  
 रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनांशेन मुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।  
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७३ ॥  
 येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।  
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७४ ॥  
 येनांशेन चारित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।  
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७५ ॥  
 उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोऽतः ।  
 कथिलं दधावकाशस्तं विम्वराद्वा करिष्यति ॥ २७६ ॥

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिरनवधार्यदर्शिणी ।  
 न्याताप्यमूढदृष्टिः श्यादग्न्या मूढदृष्टिता ॥ १७७ ॥  
 सभ्यक.परस्य गुणोप्येष माल्ल दोषाय लक्षितः ।  
 सभ्यादृष्टिर्यतोपश्यं यथा स्नात्त तथेतद ॥ १७८ ॥  
 उपपृंहणमशान्त गुणः सभ्यादृष्टात्मनः ।  
 लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं वृद्धणादिह ॥ १७९ ॥  
 आत्मशक्तेरदौर्बल्यकरणं चापवृंहणम् ।  
 अर्थादृष्टगतिपारित्यभाषारत्नलनं हि तत् ॥ १८० ॥  
 जानन्नप्येष नि शेषात्पौरुषं नामदर्शने ।  
 तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निष ॥ १८१ ॥  
 यद्वा शुद्धोपलब्धार्थमभ्यसेदपि तद्वदि ।  
 सक्रिया काश्चिदप्यर्थात्तरमाद्यानुपयोगिनाम् ॥ १८२ ॥  
 नायं शुद्धोपलब्धौ श्यात्सेशतोपि प्रमादशाम् ।  
 निष्प्रमादतयाः मानमादवान् शमादरात् ॥ १८३ ॥  
 रगेन्द्रं शेषमानोपि बाह्यपभ्यं न बाधरेत् ।  
 आत्मनोऽनुदापतामुग्धासोऽशाभतापतामपि ॥ १८४ ॥  
 यद्वा सिद्धे विनायासात्प्रत्यतत्रोपपृंहणम् ।  
 ऊर्ध्वमूढार्थं गुणभेणौ निर्जराया गुमन्मन्त्रात् ॥ १८५ ॥  
 अथत्रयं भाषिणी तत्र निर्जरा कृत्स्नवर्गिणात् ।  
 प्रतिरूढमक्षण यावदशंसयेद्यगुणक.मात् ॥ १८६ ॥  
 श्यायादायात्तमेतद्वै यावतांशेन तच्छिती ।  
 वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धिर्बुद्धिः पुनः पुनः ॥ १८७ ॥  
 यथा यथा विवृद्धिः श्यादृष्टिरस्तःप्रकाशिनी ।  
 तथा तथा ह्यर्थावानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ १८८ ॥  
 ततो भूतिन क्रियाकाण्डे मारमत्तानि न लोपयेत् ।  
 किन्तु शेषद्वयग्नूने यत्नादपि च दृष्टिमात् ॥ १८९ ॥



नूनं मर्दानज्ञानचारित्र्यमोक्षपद्धतिः ।  
 ममस्वैरेव न व्यस्तैस्तस्मिन् चारित्र्यमाश्रया ॥ २६५ ॥  
 सत्यं सदृशं ज्ञानं चारित्र्यान्तर्गतं मिथः ।  
 प्रजागामत्रिणाभावाद् रत्नप्रथमस्याण्डितम् ॥ २६६ ॥  
 किञ्च सदृशं हेतुः संविद्यारित्रयोर्द्वयोः ।  
 मध्यमिषोपगतस्योच्चैर्दृष्टा प्रथमजन्मनः ॥ २६७ ॥  
 अप्येवं सति मध्यमत्वे ज्ञानचारित्र्यमत्र यत् ।  
 भूतपूर्वं भवेत्तन्मध्यम् मूले वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥  
 शुद्धोपलब्धिशक्तियालम्बिज्ञानातिशायिनी ।  
 सा भवेत्सति सत्यस्यैव शुद्धोभावोपवाये च ॥ २६९ ॥  
 यत्पुनरुच्यचारित्र्यं भुतज्ञानं विनापि एह ।  
 न तद्ज्ञानं न चारित्र्यमस्ति चेत्तदमव्ययम् ॥ २७० ॥  
 तेनामन्यतमोर्दृशं नात्र शेषाय ज्ञानुचिम् ।  
 मोक्षमार्गेऽस्मात्प्रथमं साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥  
 बन्धो मोक्षश्च ज्ञानस्य समामा यश्नकोविदः ।  
 शशाक्षैर्बन्ध एव स्यात्प्रारागाशः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनाश्रितं मुदाष्टिभेनाशेनास्य बन्धनं नास्ति ।  
 येनाशेन तु रागभेनाशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७३ ॥  
 येनाशेन तु ज्ञानं तेनाशेनास्य बन्धनं नास्ति ।  
 येनाशेन तु रागभेनाशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७४ ॥  
 येनाशेन चरित्रं तेनाशेनास्य बन्धनं नास्ति ।  
 येनाशेन तु रागभेनाशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७५ ॥  
 क्वचिद्व्यवहारादि प्रसङ्गजमहृत्तोगतः ।  
 क्वचिद्व्यवहारादिप्रसङ्गजमहृत्तोगतः ॥ २७६ ॥



नूनं महर्शनज्ञानचारित्र्यैर्मोक्षपद्धतिः ।  
 समम्नैरेव न व्यवसैस्तक्ति चारित्र्यमात्रया ॥ २६५ ॥  
 सत्य सदृशनं ज्ञानं चारित्र्यान्तर्गतं मिथः ।  
 त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ २६६ ॥  
 किञ्च सदृशनं हेतुः संविद्यारित्रयार्द्धयोः ।  
 सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्दृष्ट्वा प्रत्यप्रजन्मनः ॥ २६७ ॥  
 अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्र्यमत्र यत् ।  
 भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥  
 शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यालब्धिज्ञानार्तिशायिनी ।  
 सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभाषोधवापि च ॥ २६९ ॥  
 यत्पुनर्द्वयचारित्र्यं भुतज्ञानं विनापि दृष्ट् ।  
 न तदुद्धानं न चारित्र्यमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥  
 नेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् ।  
 मोक्षमार्गिकमाव्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥  
 बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यं समाम्ना-प्रश्नकोविदैः ।  
 रागादीर्बन्ध एव स्यान्नास्यरागाभैः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनांशेन मुदृष्टिमेतेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।  
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७३ ॥  
 येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।  
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७४ ॥  
 येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।  
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७५ ॥  
 उक्त्वा धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्प्रसङ्गतोऽतः ।  
 कथिलंरूपावकाशमं विम्वराद्वा करिष्यति ॥ २७६ ॥









देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी ।  
 स्याताप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ २७७ ॥  
 सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नाहं दोषाय लक्षितः ।  
 सम्यग्दृष्टिर्यतोवश्यं यथा स्यान्न तथेतरः ॥ २७८ ॥  
 उपवृंहणमत्रास्ति गुणः सम्यग्दृग्गात्मनः ।  
 लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं वृंहणादिह ॥ २७९ ॥  
 आत्मशक्तेरदौर्बल्यकरणं पापवृंहणम् ।  
 अर्थाद्दृग्गतिचारिभ्रमावासरलनं हि तत् ॥ २८० ॥  
 जानन्नप्येष निशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने ।  
 तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ २८१ ॥  
 यद्वा शुद्धोपलब्धार्थमभ्यसेदपि तद्वहिः ।  
 सन्निक्रिया काश्चिदप्यर्थात्तत्माध्यानुपयोगिनाम् ॥ २८२ ॥  
 नायं शुद्धोपलब्धौ स्याद्देशतोपि प्रमादवान् ।  
 निप्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥ २८३ ॥  
 रमेन्द्रं मेवमानोपि काम्यपथ्यं न वाचरेत् ।  
 आत्मनोनुष्ठापतामुज्ज्वल्लोभल्लापतामपि ॥ २८४ ॥  
 यद्वा मिद्धं विनायासात्सर्वतस्तत्रोपवृंहणम् ।  
 ऊर्ध्वमूढत्वं गुणभ्रणौ निर्जरायाः सुसम्भवात् ॥ २८५ ॥  
 अवश्यं भाविनी तत्र निर्जरा वृत्तनकर्मणाम् ।  
 प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ २८६ ॥  
 न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षितौ ।  
 वृद्धिं शुभ्रेपयोगस्य वृद्धिर्वृद्धिः पुनः पुन ॥ २८७ ॥  
 यथा यथा विवृद्धिः स्याद्दृष्टिरन्तःप्रकाशिनी ।  
 तथा तथा ह्यपीकानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ २८८ ॥  
 ततो भूमिन् क्रियाकाण्डे मात्मशक्तिं स ह्योपयेत् ।  
 किन्तु संवर्द्धयन्नूनं यत्नादपि च दृष्टिमान् ॥ २८९ ॥







नूनं महर्शनज्ञानचारित्र्यैर्मोक्षपद्धतिः ।  
 समस्तैरेव न व्यस्तैस्तक्ति चारित्र्यमात्रया ॥ २६५ ॥  
 सत्य महर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।  
 त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमस्त्रण्डितम् ॥ २६६ ॥  
 किञ्च सदृशनं हेतुः संविचारित्रयोर्द्वयोः ।  
 सम्यग्विषेपणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यप्रजन्मनः ॥ २६७ ॥  
 अर्धोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्र्यमत्र यत् ।  
 भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् भूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥  
 शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यालब्धिज्ञानातिशायिनी ।  
 सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभावोपवापे च ॥ २६९ ॥  
 यत्पुनर्न्यचारित्र्य भुतज्ञान विनापि नृत् ॥  
 न तद्ज्ञानं न चारित्र्यमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥  
 तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय ज्ञातुचित् ।  
 मोक्षमार्गिकमाध्यम्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥  
 दन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समामा-प्रश्नकोविदः ।  
 रागांशैर्यन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनांशेन मुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धने नास्ति ।  
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धने भवति ॥ २७३ ॥  
 येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धने नास्ति ।  
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धने भवति ॥ २७४ ॥  
 येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धने नास्ति ।  
 येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धने भवति ॥ २७५ ॥  
 उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्मद्गतोऽशतः ।  
 कथिलेत्थायकाशक्तं विम्वराद्वा कथिष्यति ॥ २७६ ॥



नूनं महर्षेण ज्ञानं चारित्र्यैर्मोक्षपदमिति ।  
 समर्पयेत्तव न व्यर्थमेतत्किं चारित्र्यमात्रया ॥ २५५ ॥  
 सन्त महर्षेण ज्ञानं चारित्र्यं तन्मयात्तमिति ।  
 त्रयाणामपि नाभायादृशं त्रयमस्यपिदत्तम् ॥ २५६ ॥  
 किञ्च महर्षेण हेतुं भावच्छास्त्रययादृशं  
 मस्यपि च शेषमस्यपिदत्तं पश्यतः स्वमतः ॥ २५७ ॥  
 अर्थाय मातं मन्त्रं कुरु ज्ञानं तावत्तव यत् ।  
 भूतं त्वं भव मन्त्रं कुरु ज्ञानं तं भूतं त्वं कुरु ॥ २५८ ॥  
 शृद्ध्यापि तावत्तव कुरु ज्ञानं तं तव ज्ञानं  
 सा भव मातं मन्त्रं कुरु शृद्ध्याभावात्तव यत् ॥ २५९ ॥  
 यत्तु न त्वं यत्तव ज्ञानं तं तव ज्ञानं कुरु ।  
 न तद्विज्ञानं न चारित्र्यं तन्मयात्तमिति ॥ २६० ॥  
 तवामन्त्रं तव महर्षेण तावत्तव ज्ञानं तव  
 साधुमातं कुरु पश्य सा तव ज्ञानं तन्मयात्तमिति ॥ २६१ ॥  
 वन्ती मातं ज्ञानं तं तवमातं ज्ञानं तावत्तव ।  
 सायादीवन्तं तव तवमातं सायादीवन्तं ॥ २६२ ॥

इति च

येनाज्ञानं मुक्ताष्टमनाज्ञानात्तव वन्तं तव ज्ञानं ।  
 येनाज्ञानं तु सायादीवन्तं तव ज्ञानं तव ज्ञानं ॥ २६३ ॥  
 येनाज्ञानं तु ज्ञानं येनाज्ञानात्तव वन्तं तव ज्ञानं ।  
 येनाज्ञानं तु सायादीवन्तं तव ज्ञानं तव ज्ञानं ॥ २६४ ॥  
 येनाज्ञानं चारित्र्यं येनाज्ञानात्तव वन्तं तव ज्ञानं ।  
 येनाज्ञानं तु सायादीवन्तं तव ज्ञानं तव ज्ञानं ॥ २६५ ॥  
 इति धर्मश्रवणाय प्रसङ्गात्तव ज्ञानं  
 इति चारित्र्यं तव ज्ञानं तव ज्ञानं ॥ २६६ ॥

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी ।  
 रूपाताप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ २७७ ॥  
 सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नाहं दोषाय लक्षितः ।  
 सम्यग्दृष्टिर्यतोवश्यं यथा स्यान्न तथेतरः ॥ २७८ ॥  
 उपबृंहणमत्रास्ति गुणः सम्यग्दृग्गान्मनः ।  
 लक्षणादात्मशक्तेनामवश्यं बृंहणादिह ॥ २७९ ॥  
 आत्मशक्तेरदौर्ध्वन्यकरणं चापबृंहणम् ।  
 अर्थाद्दृग्गतिचारित्रभावास्खलनं हि तन् ॥ २८० ॥  
 जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने ।  
 तथापि यत्नवानत्र पौरुष प्रेरयन्निव ॥ २८१ ॥  
 यद्वा शुद्धोपलब्धार्थमभ्यसेदपि तद्वदि ।  
 सन्निक्रिया काञ्चिदप्यर्थात्तत्त्वानुपयोगिनाम् ॥ २८२ ॥  
 नायं शुद्धोपलब्धौ स्याद्देशतोपि प्रमादवान् ।  
 निष्प्रमादनयात्मानमाददान समादरान् ॥ २८३ ॥  
 रमेन्द्रं मेवमानोपि काम्यपथ्यं न वाचरेत् ।  
 आत्मनोनुहायतामुञ्चन्नोञ्चन्नहायतामपि ॥ २८४ ॥  
 यद्वा मिद्ध विनायासात्त्वतन्त्रोपबृंहणम् ।  
 ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणभ्रणौ निर्जरायाः मुमम्भवान् ॥ २८५ ॥  
 अवश्य भाविनी तत्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।  
 प्रतिसूक्ष्मक्षण यावदसंख्येयगुणक्रमान् ॥ २८६ ॥  
 न्यायादायातमेतद्वै यावताशेन तस्त्रितौ ।  
 वृद्धि शुद्धोपयोगस्य वृद्धिर्वृद्धिः पुन पुनः ॥ २८७ ॥  
 यथा यथा विशुद्धिः स्याद्वृद्धिरन्तःप्रकाशिनी ।  
 तथा तथा हृषीकानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ २८८ ॥  
 ततो भूमिः क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिः स लोपयेत् ।  
 किन्तु सेवद्वयन्नूनं यत्नादपि च दृष्टिमान् ॥ २८९ ॥

नूनं महर्शनज्ञानचारित्र्यैर्मोक्षपद्धतिः ।  
 ममस्वैरेव न ह्यस्मैस्तस्मिन् चारित्र्यमात्रया ॥ २६५ ॥  
 मन्य महर्शनं ज्ञानं चारित्र्यान्तर्गतं मिथः ।  
 प्रयाणामत्रिणाभावाद् स्तनत्रयमस्यण्डितम् ॥ २६६ ॥  
 किञ्च महर्शनं हेतुः संविचारित्रयोर्द्वयोः ।  
 मस्यत्रिशेषणस्योच्येदेहा प्रत्यप्रजन्मनः ॥ २६७ ॥  
 अर्थोयं सति मस्यकल्पे ज्ञानचारित्र्यमत्र यत् ।  
 भूतपूर्वं भवेत्समस्यक मृतं वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥  
 शुद्धोपलब्धिशक्तिर्बालाब्धज्ञानातिशायिनी ।  
 सा भवेत्सति मस्यकल्पे शुद्धोभावोपचापि च ॥ २६९ ॥  
 यत्पुनरुच्यचारित्र्य भूतज्ञानं विनापि दृष्टं ।  
 न तद्ज्ञानं न चारित्र्यमस्ति ये कर्मयग्धकृत् ॥ २७० ॥  
 मेवाभस्यनमांहेतोः नान्य दोषाय ज्ञातुष्विह ।  
 मोक्षमार्गेऽहमायस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥  
 बन्धा मोक्षस्य ज्ञानस्य समाप्ताप्रदानकोविदेः ।  
 रागादीर्बन्ध एव स्यात्प्रागगातोः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनाज्ञानं मुक्ताष्टमेनाज्ञानस्य बन्धने नास्ति ।  
 येनाज्ञानं तु रागभेनाज्ञानस्य बन्धने भवति ॥ २७३ ॥  
 येनाज्ञानं तु ज्ञानं तेनाज्ञानस्य बन्धने नास्ति ।  
 येनाज्ञानं तु रागभेनाज्ञानस्य बन्धने भवति ॥ २७४ ॥  
 येनाज्ञानं चरित्र्यं तेनाज्ञानस्य बन्धने नास्ति ।  
 येनाज्ञानं तु रागभेनाज्ञानस्य बन्धने भवति ॥ २७५ ॥  
 कर्मा धर्मस्यकारणं प्रसङ्गात्प्रज्ञानीनाम् ।  
 चरित्र्येऽप्यप्यहोऽन्तर्निःसंशयानुः कश्चिदपि ॥ २७६ ॥

अत्रिभ्यं वासुदेव वा नदि पुण्यादने वाचित् ।  
 अत्रिभ्यं वासुदेव वा नदि पुण्यादने वाचित् ॥ ५० ॥  
 ऐश्वर्यं च महत्त्वं च शीतार्द्रं सर्वमाश्रयता ।  
 पुण्यं विना न वादापि विद्याविज्ञानकौशलम् ॥ ५१ ॥  
 अथ वि. बहूनां चैतन्यैः शोचयेति च यन्मुच्यते ।  
 पुण्योपेतं हि तत्रैवं विज्ञानपुण्यं विना नदि ॥ ५२ ॥  
 तत्र प्रसीदाधुना प्राज्ञ ' महत्त्वं कृणु कामन ।  
 सर्वामयविनाशाय विष पुण्यदग्गाधनम् ॥ ५३ ॥  
 शोचाय परमनां नास्ती भावकः सर्वशास्त्रविदुः ।  
 पुण्यदेतौ परिज्ञाने तन्मर्तुमपि श्रेयसेत् ॥ ५४ ॥  
 धनु भावक ' पुण्यस्य कारणं वक्षिमी साम्प्रतम् ।  
 देशतो विरतिर्नाम्नापुत्रतं सर्वतो मदन् ॥ ५५ ॥  
 मनु विरतिशब्दापि साकांक्षो ब्रह्मवाचकः ।  
 वैश्वस्य कियन्मात्रैः शक्तिभ्यः सा वदाय नः ॥ ५६ ॥  
 हिमाया विरतिः शोच्यते तथा पानृत्यभाषणात् ।  
 शोच्यते विरतिः शोच्यते तथा पानृत्यभाषणात् ॥ ५७ ॥  
 एभ्यो देशतो विरतिर्गृहियोम्यमपुत्रतम् ।  
 सर्वतो विरतिर्नाम मुनिषोऽप्यं महाव्रतम् ॥ ५८ ॥  
 मनु हिमात्वं किं नाम वा नाम विरतिस्ततः ।  
 किं देशत्वं यथाश्रयाद्भूदि मे वदतां वर ॥ ५९ ॥  
 हिंसा प्रमत्तयोगाद्ब्रह्मप्राणव्यपरोपणम् ।  
 लक्षणाक्षिता सूत्रे लक्षणाः पूर्वमृषिभिः ॥ ६० ॥  
 प्राणाः पञ्चेन्द्रियाणीह वाम्मनोऽङ्गचलत्रयम् ।  
 निःश्यासोऽङ्गामसंज्ञः श्यादापुरेकं दशेति च ॥ ६१ ॥



सम्यग्दृशाऽथ मिथ्यात्वशालिनाप्यथशक्तिः ।  
 अभव्येनापि भव्येन कर्तव्यं व्रतमुत्तमम् ॥ ३७ ॥  
 यतः पुण्यक्रिया माध्वी कापि नास्तीह निष्फला ।  
 यथापात्रं यथायोग्यं स्वर्गभोगादिसत्फला ॥ ३८ ॥  
 पारंपर्येण केषांचिदपवर्गाय सत्क्रिया ।  
 पञ्चानुत्तरविमाने मुदे प्रवेयकादिषु ॥ ३९ ॥  
 केषांचित्कल्पवासादिश्रेयसे सागरावधि ।  
 भावनादित्रयेषूच्चैः मुधापानाय जायते ॥ ४० ॥  
 मानुषाणां च केषाञ्चित्तीर्थद्वारपदाप्तये ।  
 चक्रित्वार्यार्द्धचक्रित्वपदसंप्राप्तिहेतवे ॥ ४१ ॥  
 उत्तमभोगभूपूषैः मुखं कल्पतरुद्रवम् ।  
 एतत्सर्वमहं मन्ये श्रेयसः फलितं महत् ॥ ४२ ॥  
 सत्कुले जन्म दीर्घायुर्वपुर्गाढं निरामयम् ।  
 श्रेष्ठे सम्पदसर्षन्ता पुण्यस्यैतत्फलं विदुः ॥ ४३ ॥  
 साध्वी भार्या कुलोत्पन्ना भर्तुश्छन्दानुगामिनी ।  
 सूनवः पितुराज्ञायाः मनागचलिताशयाः ॥ ४४ ॥  
 सधर्मभातृवर्गाश्च सानुकूलाः सुसंहताः ।  
 सिग्धाश्चानुचरा यावदेतत्पुण्यफलं जगुः ॥ ४५ ॥  
 जैनधर्मे प्रतीतिश्च संयमे शुभभावना ।  
 ज्ञानशक्तिश्च सूत्रार्थे गुरवश्चोपदेशकाः ॥ ४६ ॥  
 सधर्मिणः सहायाश्च स्पष्टाश्ररं वाक्पाटवम् ।  
 सौष्टव्यं चक्षुरादीनां मनीषा प्रतिभान्विता ॥ ४७ ॥  
 सुयशः सर्वलोकेस्मिन् शरदिन्दुसमप्रभम् ।  
 शासनं स्यादनुल्लभ्यं पुण्यभूजां न संशयः ॥ ४८ ॥  
 विजयः स्यादरिभ्यंसात्प्रतापस्तच्छिरोनतिः ।  
 दण्डाकर्षोऽप्यरिभ्यश्च सर्वं सत्पुण्यपाकतः ॥ ४९ ॥



उक्तं च ।

पंचवि इंदिय पाणा मण धचकायेण तिण्णिवल पाणा ।  
 आणपाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ॥  
 एकाक्षे तत्र चत्वारो द्वीन्द्रियेषु पडेव ते ।  
 त्र्यक्षे सप्त चतुराक्षे विद्यन्तेष्टौ यथागमात् ॥ ६२ ॥  
 नवासंज्ञिनि पञ्चाक्षे प्राणाः संज्ञिनि ते दश ।  
 मत्त्वेति किल सद्मस्यैः कर्तव्यं प्राणरक्षणम् ॥ ६३ ॥  
 अत्रैकाक्षादिजीवाः स्युः प्राणशब्दोपलक्षणात् ।  
 प्राणादिमत्त्वं जीवस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ६४ ॥  
 प्रसङ्गादत्र दिग्मात्रं वाच्यं प्राणिनि कावकम् ।  
 सत्स्वरूपं परिज्ञाय तद्रक्षां कर्तुमर्हति ॥ ६५ ॥  
 सन्ति जीवसमासास्ते संक्षेपाश्च चतुर्दश ।  
 व्यासादसंख्यभेदाश्च मन्यनन्ताश्च भावतः ॥ ६६ ॥  
 तत्र जीवो महीकायः सूक्ष्मः स्थूलश्च स द्विधा ।  
 पर्याप्तापर्याप्तकाभ्यां भेदाभ्यां स द्विधायवा ॥ ६७ ॥  
 प्रत्येकं तस्य भेदाः स्युश्चत्वारोपि च तद्यथा ।  
 शुद्ध भू भूमिजीवश्च भूकायो भूमिकायिकः ॥ ६८ ॥  
 शुद्धा प्राणोञ्जिता भूमिर्यथा स्यादग्धमृत्तिका ।  
 भूजीवोऽद्यैव भूमौ यो द्रागेष्यति गत्यन्तरान् ॥ ६९ ॥  
 भूरेय यस्य कायोस्ति यद्दानन्यगतिर्भुवः ।  
 भूशरीरस्तदात्वेस्य सभूकाय इत्युच्यत ॥ ७० ॥  
 भूकायिकस्तु भूमिस्थोऽन्यगतौ गन्तुमुत्सुकः ।  
 स समुद्रघातावग्यायां भूकायिक इति स्मृतः ॥ ७१ ॥

१ एवमपि इन्द्रियपाणाः मनोवच.जायेन त्रयःपलपाणाः । आनपाणानां  
 आपुष्पपाणेन भवन्ति दश प्राणाः ।





माधारणा निरुत्ताभ सन्त्येवैकार्यवाचकाः ।  
 पूनपटवद्वै मूर्धमैल्लोकोय सीसुनोमिल ॥ ९१ ॥

आधाराधेयदुत्ताद वादरा ह्यु कश्चित्कश्चित् ।  
 नेपि प्रतिष्ठिता केचित्किंचित्नेभाप्रतिष्ठिता ॥ ९२ ॥

नैराधिता यथा श्रेया प्रागितो मूलकादयः ।  
 अनाधिता यथैतैश्च प्रीटयध्यगकादयः ॥ ९३ ॥

नर्भैकमित्त तारीरेपि सन्त्यनन्ताभ प्राणिन ।  
 नर्भैकमित्त तारीरेपि सन्त्यनन्ताभ प्राणिन ॥ ९४ ॥

प्रत्येकाभ निरुत्ताभ नाम्ना मूर्धेषु संक्षिता ॥ ९५ ॥  
 उक्तं च ।

एव गिगोयमरीरे जीवा दृक्त्वत्पमाणदो दिवा ।  
 मिदं हि अणतगुणा मध्येण विनीदवालेन ॥

एतमेतावदुत्ताभ्य तदाध्यायार्थवार्थन ।  
 यत्तस्मदुत्ताभे कार्य भावकैर्दुर्गर्भैरुभिः ॥ ९६ ॥

उत्ताभैकाधर्त्रीषाना मध्येपाह्येण यथा ।  
 साम्प्रत ईन्द्रियादीना प्रसाना कश्चि लक्षणम् ॥ ९७ ॥

तदध्याय यथा मूर्धे प्रमाःस्युर्दीन्द्रियादयः ।  
 पर्याप्तापर्याप्तकाश्च मत्स्येकं ते द्विधा मताः ॥ ९८ ॥

कृमयो ईन्द्रिया प्राण्यार्थीन्द्रियाश्च विरील्लिखतः ।  
 प्रमिदमक्षकार्थेते भमराश्चतुर्दिन्द्रिया ॥ ९९ ॥

पञ्चेन्द्रिया द्विधा ज्ञेया संक्षिनोऽसंक्षिनस्तथा ।  
 पञ्चेन्द्रिया द्विधा ज्ञेया संक्षिनोऽसंक्षिनस्तथा ॥ १०० ॥

संक्षिनस्तत्र पञ्चाक्षा देवनाटकमानुषा ॥ १०१ ॥  
 तिर्यञ्चान्तत्र पञ्चाक्षा संक्षिनोऽसंक्षिनस्तथा ।

प्रत्येकं ते द्विधा ज्ञेया सम्मूर्च्छिमाश्च गर्भजा ॥ १०२ ॥  
 लक्ष्यपर्याप्तकास्तत्र तिर्यञ्चो मनुजाश्च ये ।

असंक्षिनो भवन्त्येव सम्मूर्च्छिमा न गर्भजाः ॥ १०३ ॥  
 इति संक्षेपतोष्यत्र जीवस्थानान्यर्थाकथनम् ।  
 तत्पररूपं परिज्ञाय कर्तव्या करुणा जनैः ॥ १०४ ॥

क्षुद्रभवायुरेतद्वा सर्वजघन्यमागंमात् ।  
तद्वदायुर्विशिष्टास्ते जीवाश्चातीव दुःखिताः ॥ ८१ ॥

उक्तं च ।

तिण्णिसयाद्यत्तीसाच्छाद्यडिसहस्सवार मरणाइं ।  
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव सुदमवा ॥  
अत्रपर्याप्तशब्देन लक्ष्यं पर्याप्तको मतः ।  
अपर्याप्तकजीवस्तु स्यात्पर्याप्तक एव हि ॥ ८२ ॥  
एवं ज्ञेयं जलादीनां लक्ष्म नो देशितं मया ।  
ग्रन्थगौरवभीतेर्वा पुनरुक्तमयादपि ॥ ८३ ॥  
किञ्चिद्गुम्यादिजीवानां चतुर्णां प्रोक्तलक्ष्मणाम् ।  
घातुचतुष्कमेतेषां संज्ञास्याग्निजनासनात् ॥ ८४ ॥  
अथ घातुचतुष्काङ्गाः सम्भवन्त्यप्रतिष्ठिताः ।  
साधारणनिकोताहैस्तैर्वनस्पतिकार्यिकैः ॥ ८५ ॥

उक्तं च ।

पुढवी आइचउण्हं तित्थयराहारदेवणिरयंगा ।  
अपदिठिदा णिगोदै पदिठ्ठिदंगा ह्वे सेसा ॥  
किन्तु घातुचतुष्कस्य पिण्डे सूक्ष्ममात्रके ।  
एकाक्षाः सन्त्यसंख्याता नानन्ता नापिसंख्यका ॥ ८६ ॥  
अयमर्थः पृथिव्यादिकाये यत्रो विधीयताम् ।  
तद्घादिपरित्यागवृत्तभावेपि श्रावकैः ॥ ८७ ॥  
अनन्तानन्तजीवास्तु म्युर्यनस्पतिकार्यिकाः ।  
पूर्ववत्तेपि सूक्ष्माश्च वादराश्चेति भेदतः ॥ ८८ ॥  
पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं चेति ते द्विधा ।  
प्रत्येकाः साधारणाश्च विज्ञेया जैनशासनात् ॥ ८९ ॥  
सूक्ष्मवादपर्याप्तापर्याप्तानां च लक्षणम् ।  
ज्ञातव्यं यत्प्रागत्रैव निर्दिष्टं नातिविस्तरात् ॥ ९० ॥

आधारणा निबोताभ मन्त्येवैकार्यवाचकाः ।  
 पृतपटवद्दे मूत्रैर्लोकोचं वीरुतोमिहः ॥ ९१ ॥  
 आधाराधेयदेगुत्वाद वादरा म्युः कवित्ववित् ।  
 तेषि प्रविष्टिनाः केपिकिकोऽभाप्रविष्टिनाः ॥ ९२ ॥  
 नैराभिता यथा प्रोक्ता प्रागितो मूलवाद्यः ।  
 अनाभिता यथैतैश्च प्रीटयक्षणवाद्यः ॥ ९३ ॥  
 तत्रैकमिन्द्र दारिरेपि मन्त्यनन्ताभ प्राणिन ।  
 प्रत्येकाभ निबोताभ नाम्ना मूत्रेषु मेक्षिता ॥ ९४ ॥  
 उक्तं च ।

एष निगोचमरीरे जीवा दृष्यन्पमाणदो दिष्टा ।  
 मिष्टेति अणतगुणा मध्येण वितीद्वारणे ॥  
 यन्मेकावदुत्तम्य तद्गोपयवायकार्यतः ।  
 यन्नस्तद्वर्णने कार्यं काषकैर्दुःखभीरुभिः ॥ ९५ ॥  
 एतमेकाभर्जीवाना मंक्षेपालक्षणं यथा ।  
 नागप्रतं द्वीन्द्रियादीनां प्रसाना क्वचिन्मृच्छन्म् ॥ ९६ ॥  
 तद्वर्णनं यथा मूत्रे प्रमाः म्युर्द्वीन्द्रियाद्यः ।  
 पर्याप्ताप्रवातकाभ प्रत्येकं ते द्विधा मताः ॥ ९७ ॥  
 कृमयो द्वीन्द्रियाः प्रोक्तास्वीन्द्रियाभ विपीलिकाः ।  
 प्रमिद्धमंक्षकाभैते भमराभतुरिन्द्रियाः ॥ ९८ ॥  
 पद्मेन्द्रिया द्विधा ज्ञेया संज्ञिनोऽमंज्ञिनस्तथा ।  
 संज्ञिनस्तत्र पञ्चाभाः देवनारकमानुषाः ॥ ९९ ॥  
 तिर्यञ्चस्तत्र पञ्चाभाः संज्ञिनोऽमंज्ञिनस्तथा ।  
 प्रत्येकं ते द्विधा ज्ञेया सम्मूर्च्छिताभ गर्भजाः ॥ १०० ॥  
 लब्धपपर्याप्तकास्तत्र तिर्यञ्चो मनुजाभ ये ।  
 असंज्ञिनो भवन्त्येष सम्मूर्च्छिता न गर्भजाः ॥ १०१ ॥  
 इति संक्षेपतोप्यत्र जीवस्थानान्वर्षाकथम् ।  
 तत्त्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या करुणा जनैः ॥ १०२ ॥



क्षुद्रभवायुरेतद्वा सर्वजघन्यमार्गमात् ।  
तद्वदायुर्विशिष्टास्ते जीवाश्चातीव दुःस्त्रिताः ॥ ८१ ॥

उक्तं च ।

तिष्ठिणसयाञ्छत्तीसाछावडिसहस्सधार मरणाई ।

अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव मुद्रभवा ॥

अत्रापर्याप्तगच्छेन लब्ध्यपर्याप्तको मतः ।

अपर्याप्तकजीवस्तु स्यात्पर्याप्तक एव हि ॥ ८२ ॥

एवं ज्ञेयं जलादीनां लक्ष्म नो देशितं मया ।

ग्रन्थगोरवभीतेर्वा पुनरुक्तभयादपि ॥ ८३ ॥

किञ्चिद्भूम्यादिजीवानां चतुर्णां प्रोक्तलक्ष्मणाम् ।

धातुचतुष्कमेतेषां संज्ञास्याग्निजनशासनात् ॥ ८४ ॥

अथ धातुचतुष्काङ्गाः सम्भवन्त्यप्रतिष्ठिताः ।

साधारणनिकोताङ्गैस्त्वैर्बनस्पतिकायिकैः ॥ ८५ ॥

उक्तं च ।

पुढवी आइचउण्ह तित्ययराहारदेवणिरयंगा ।

अपदिडिदा णिगोदै पदिट्टिदंगा ह्ये सेसा ॥

किन्तु धातुचतुष्कस्य पिण्डे सूच्यप्रमात्रके ।

एकाक्षाः सन्त्यसंख्याता नानन्ता नापिसंख्यकाः ॥ ८६ ॥

अयमर्थः पृथिव्यादिकाये यत्रो विधीयताम् ।

तद्द्रधादिपरित्यागवृत्तभावेपि श्रायकैः ॥ ८७ ॥

अनन्तानन्तजीवास्तु स्युर्बनस्पतिकायिकाः ।

पूर्ववत्तेपि सूक्ष्माश्च वादराश्चेति भेदतः ॥ ८८ ॥

पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं चेति ते द्विधा ।

प्रत्येकाः साधारणाश्च विशेषा जैनशासनात् ॥ ८९ ॥

सूक्ष्मवादरपर्याप्तापर्याप्तानां च लक्षणम् ।

ज्ञानस्य यत्रागत्रैव निर्दिष्टं नातिविस्तरात् ॥ ९० ॥



देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे तथा भावाद्विवक्षितः ।  
 कारणात्स्थूलहिंसादेस्त्यागस्यैवात्र दर्शनात् ॥ १२३ ॥  
 स्थूलत्वमादेवं स्थूलत्रसरक्षादिगोचरम् ।  
 अतिचाराविनाभूतं सातिचारं च साम्प्रवम् ॥ १२४ ॥  
 तथा यो निवृत्तः स्वान्नावत्प्रमवधादिह ।  
 न निवृत्तस्तथा पंचस्थावरहिंसया गृही ॥ १२५ ॥  
 विरताविरताख्यः स म्यादेकस्मिन्ननेहसि ।  
 लक्षणात्प्रमहिंसायास्त्यागेऽणुप्रनधारकः ॥ १२६ ॥

उक्त च ।

जो तसवहाउविरओ अविरओ तह यावर यहाओ ।  
 एकममयमिह जीवो विरदाविरदो जिणेकमई ॥  
 अत्र तात्पर्यमेवैतत्सर्गारम्भेण श्रूयताम् ।  
 प्रसकायप्रधाय स्यात्क्रिया स्याज्या हितावती ॥ १२७ ॥  
 क्रियायां यत्र विख्यातप्रसकायप्रधो महान् ।  
 तां तां क्रियामवश्यं स सर्वांमपि परित्यजेत् ॥ १२८ ॥  
 अत्राप्याशङ्कते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः ।  
 कुर्याद्विमां प्रकार्याय न कार्या स्यावरक्षतिः ॥ १२९ ॥  
 अयं तेषां विकल्पो सः स्यादा कपोलकल्पनात् ।  
 अर्थाभासस्य ध्रान्तेषां नैवं मूत्रार्थदर्शनान् ॥ १३० ॥  
 तथा मिद्धमूत्रार्थे दर्शितं पूर्णमूरिमिः ।  
 तत्रार्थोयं विना कार्यं न कार्या स्यावरक्षतिः ॥ १३१ ॥  
 एतन्मूत्र विशेषार्थेऽनवदत्तावधानकैः ।  
 नूनं नैः स्मृतितं मोहात्मयंमामान्यसद्महान् ॥ १३२ ॥  
 द्विधं कार्यं विना, द्विमां न कुर्याद्विधिमीमाता ।  
 दृष्टेनुपयुगम्याने कृताथत्वाद्दृष्टगान्मनः ॥ १३३ ॥  
 तदुक्तं गोम्मटमारे सिद्धान्ते मिद्धमाधने ।  
 तन्मूत्रं च यथाश्रायान्प्रतीने वस्त्रिमाश्रयतम् ॥ १३४ ॥

उक्तं च ।

सम्माद्री जीषो उपरः परयसं च गदहदि ।  
 गदहदि अमत्भाषं अज्ञागमाणो गुरुनिषोणा ॥  
 अत्र सूत्रे चकारस्य प्रदर्शनं विद्यते शुद्धम् ।  
 मायाधर्माकारेण टीकायां प्रकटीकृत ॥ १३५ ॥  
 टीका व्याख्या यथा धर्मिग्रीबो य सस्यगृष्टिमान् ।  
 उपदिष्ट प्रवचनं जिनां कं धरभानि म' ॥ १३६ ॥  
 चकारप्रदर्शनेन न बुधोन्त्रसर्दिमनम् ।  
 विना कार्यं कृपाटंत्वात्प्रशमादिगुणान्वितः ॥ १३७ ॥  
 एषमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे ।  
 स एषार्थो यद्यत्रापि प्रतित्वं हि बुधोऽर्थतः ॥ १३८ ॥  
 तत्त्वज्ञमगुणस्थाने दिग्भात्र प्रतभिच्छ्रुता ।  
 प्रसकारवधार्थं या क्रिया त्याग्यामित्यादि च ॥ १३९ ॥  
 ननु जलानलोर्ध्वप्रसङ्गनम्पतिकेषु च ।  
 प्रवृत्तौ तन्निष्ठाज्ञानां प्रमानां तत्र का कथा ॥ १४० ॥  
 नैव दोषोत्पदोपत्वाद्यद्वा सङ्गवधिवेचनान् ।  
 निष्प्रमादतया तत्र रक्षणे यानतत्परान् ॥ १४१ ॥  
 एवं चेत्सर्दि कृप्यादां कां दोषस्तुन्यकारणान् ।  
 अज्ञकयपरिहारस्य तद्भूतत्रापि सम्भवान् ॥ १४२ ॥  
 अपि तत्रात्मनिन्दादिभावम्याषडयभाषतः ।  
 प्रसक्तयोगाद्यभावस्य यथास्त्वं सम्भवादपि ॥ १४३ ॥  
 जलादावपि विख्यातास्त्रसाः सन्त्युपलब्धितः ।  
 कृप्यादां च त्रसा सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥ १४४ ॥  
 नैव यतोऽनभिज्ञोमि हिंसाणुप्रतलक्षणम् ।  
 सतृणान्यवहारित्वं भुञ्जानो द्विरदादिषु ॥ १४५ ॥

१. न. पुनः " वाभि " इति पाठः ।

देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे तथा भावाद्विवक्षितः ।  
 कारणात्स्थूलहिंसादेस्त्यागम्यैवात्र दर्शनात् ॥ १२३ ॥  
 स्थूलत्वमार्दवं स्थूलत्रसरक्षादिगोचरम् ।  
 अतिचाराविनाभूतं सातिचारं च मात्रवम् ॥ १२४ ॥  
 तद्यथा यो निवृत्तः स्यादावत्वसवधादिह ।  
 न निवृत्तस्तथा पंचस्थाग्रहिंमया गृही ॥ १२५ ॥  
 विरताविरताख्यः न स्यादेकस्मिन्ननेहसि ।  
 लक्षणात्त्रमहिंसायास्त्यागेऽणुन्नधारकः ॥ १२६ ॥

उक्तं च ।

जो तसवहाउविरओ अविरओ नह यावर वहाओ ।  
 एकसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेकमई ॥  
 अत्र तात्पर्यमेवैतत्सर्वारम्भेण श्रूयताम् ।  
 त्रसकायवधाय स्यात्क्रिया स्याज्या हितावती ॥ १२७ ॥  
 क्रियायां यत्र विख्यातस्त्रसकायवधो महान् ।  
 तां तां क्रियामवश्यं स सर्वामपि परित्यजेत् ॥ १२८ ॥  
 अत्राप्यागङ्कते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः ।  
 कुर्याद्विंसां स्वकार्याय न कार्या स्यावरक्षतिः ॥ १२९ ॥  
 अयं तेषां विकल्पो यः स्याद्वा कपोलकल्पनात् ।  
 अर्थाभासस्य भ्रान्तेर्था नैवं सूत्रार्थदर्शनात् ॥ १३० ॥  
 तद्यथा सिद्धसूत्रार्थे दर्शितं पूर्वसूरिभिः ।  
 तत्रार्थोयं विना कार्यं न कार्या स्यावरक्षतिः ॥ १३१ ॥  
 एतत्सूत्र विशेषार्थेऽनवदत्तायधानकैः ।  
 नूनं तैः स्वलितं मोहात्मघंसामान्यसङ्ग्रहात् ॥ १३२ ॥  
 किञ्च कार्यं विना, हिंसां न कुर्यादितिधीमता ।  
 दृष्टेस्तुर्वगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्दृग्गात्मनः ॥ १३३ ॥  
 तदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने ।  
 तत्सूत्रं च यथाग्रायात्प्रतीत्यै षष्ठिसाम्प्रतम् ॥ १३४ ॥

उक्तं च ।

- सम्माद्री जीवो उपरुः दययणं च सदददि ।  
 सदददि अतस्मात् अजागमानो गुरुणियोगा ॥  
 अत्र सूत्रं चकारण्य प्रदर्शनं विद्यते सुदृढम् ।  
 साधारण्यटीकाकारेण टीकायां प्रकटीकृतम् ॥ १३५ ॥  
 टीका दद्यात्तया यथा बंधिग्रीवो यः सम्पद्यद्विमान् ।  
 उपदिष्ट प्रवचनं त्रिनोक्तं भद्रधानि सः ॥ १३६ ॥  
 चकारप्रदत्तादेव न कुर्यात्प्रसदिसनम् ।  
 विना कार्यं कृपाद्वैत्वात्प्रज्ञमादिगुणान्वितम् ॥ १३७ ॥  
 एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च त्रिनागमे ।  
 स एवार्थो यद्यत्रापि प्रतित्वं हि कुतोऽर्थतः ॥ १३८ ॥  
 तत्प्रज्ञमगुणस्थाने दिग्मात्रं प्रतमिच्छता ।  
 प्रसकार्यवधार्थं या क्रिया त्वाग्याभिलषाणि च ॥ १३९ ॥  
 ननु जलानलोर्व्यममद्वन्द्वनस्पतिकेषु च ।  
 प्रवृत्तौ तन्निष्ठताद्धाना प्रमानां तत्र का कथा ॥ १४० ॥  
 नैव दोषोऽन्यदोषत्वाद्यद्वा एकवधियेषनान् ।  
 निधमादतया तत्र रक्षणे यत्नतत्परान् ॥ १४१ ॥  
 एवं चेत्तर्हि कृष्यादौ को दोषस्तुन्यकारणान् ।  
 अज्ञकयपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवान् ॥ १४२ ॥  
 अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्यापश्यभाषतः ।  
 प्रसक्तयोगाद्यभावस्य यथाम्यं सम्भवादपि ॥ १४३ ॥  
 जलादावपि विरुधासास्त्रसाः सन्त्युपलब्धितः ।  
 कृष्यादौ च प्रसा. मन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥ १४४ ॥  
 नैव यतोऽनभिज्ञोऽपि हिंसाणुप्रतलक्षणे ।  
 सत्प्रज्ञाभ्यवहारित्वं भुञ्जानो द्विरदादिषन् ॥ १४५ ॥

देशशब्दोऽयं स्थूलार्थे तथा भाषाद्विषयित्वात् ।

कारणात्स्थूलहिमादेर्म्यागम्यैरात्र दर्शनात् ॥ १२३ ॥

स्थूलत्वमादेवं स्थूलप्रमरभादिगोचरम् ।

अतिचाराविनाभूतं सातिचारं च मास्त्रयम् ॥ १२४ ॥

तद्यथा यो निवृत्तः स्यादावत्प्रमयथादिह ।

न निवृत्तस्तथा पंचम्यापरहिमया गृही ॥ १२५ ॥

विरताविरतारुयः स स्यादेकस्मिन्ननेह्मि ।

लक्षणात्प्रमहिमायाम्त्यागेऽणुप्रनधारकः ॥ १२६ ॥

उक्तं च ।

जो तसवहाउविरओ अविरओ नह यावर वहाओ ।

एकसमयमिह जीवो विरदाविरदो जिणेकमई ॥

अत्र तात्पर्यमेवैतत्सर्धारम्भेण ध्रूयताम् ।

प्रसकायवधाय स्यात्क्रिया त्याज्या दिनावती ॥ १२७ ॥

क्रियायां यत्र विख्यातस्त्रसकायवधो महान् ।

तां तां क्रियामवश्यं स सर्वांमपि परित्यजेत् ॥ १२८ ॥

अत्राप्याशङ्कते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः ।

कुर्याद्विंसां स्वकार्याय न कार्यां स्यावरक्षतिः ॥ १२९ ॥

अयं तेषां विकल्पो यः स्याद्वा कपोलकल्पनान् ।

अर्थाभासस्य भ्रान्तेर्वा नैवं सूत्रार्थदर्शनात् ॥ १३० ॥

तद्यथा सिद्धसूत्रार्थे दर्शितं पूर्वसूरिभिः ।

तत्रार्थोयं विना कार्यं न कार्यां स्यावरक्षतिः ॥ १३१ ॥

एतत्सूत्र विशेषार्थेऽनवदत्तावधानकैः ।

नूनं तैः स्वलितं मोहात्सर्वसामान्यसङ्ग्रहान् ॥ १३२ ॥

किञ्च कार्यं विना, हिंसां न कुर्यादितिधीमता ।

दृष्टेस्तुर्यगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्दृष्टगाल्मनः ॥ १३३ ॥

तदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने ।

तत्सूत्रं च यथाज्ञायात्प्रतीत्यै षष्ठिसाम्प्रतम् ॥ १३४ ॥

उक्तं च ।

- सामादी जीवो उपरुं एवयनं च मरुदि ।  
 मरुदि अमर्याव अजायमानो गुरुनिधोगा ॥  
 अत्र सूत्रे चकारमय मरुर्ण विपने सुटम् ।  
 नायाधंटीबाबांण टीकायां मरुटीकृत ॥ १३५ ॥  
 टीका ज्याग्या यथा बंधिग्रीबो यः सम्मरुट्टिमान् ।  
 उपदिष्ट प्रवचन जिनांत धरधानि म ॥ १३६ ॥  
 चकारमरुणादेव न सुयान्त्रमरुटिसनम् ।  
 विना कार्यं कृपाट्वात्प्रज्ञमादिगुणान्वितः ॥ १३७ ॥  
 एवमित्यत्र विद्यातं कश्चिन् च जिनागमे ।  
 स एवाथो यत्तत्रापि प्रतिकं हि कुनोऽर्थतः ॥ १३८ ॥  
 सत्यप्रमगुणस्थाने दिग्मात्र प्रमभिच्छता ।  
 प्रमवायवधार्थं वा क्रिया त्याग्यामित्यापि च ॥ १३९ ॥  
 ननु ज्ञानलोच्यप्रमद्वनम्पतिकेषु च ।  
 प्रवृत्तौ तन्निष्ठाज्ञाना प्रमानां तत्र का कथा ॥ १४० ॥  
 नैव दोषोत्पदोपत्वागद्वा साकवयिवेषनान् ।  
 निष्प्रमादतया तत्र रक्षणे यानतत्परान् ॥ १४१ ॥  
 एवं चेतर्हि कृप्यादौ को दोषस्तुन्यकारणान् ।  
 अनाक्यपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवान् ॥ १४२ ॥  
 अपि तत्रान्मनिन्दादिभावस्यावश्यभावात् ।  
 प्रमत्तयोगाण्यभावस्य यथाम्यं सम्भवादिपि ॥ १४३ ॥  
 जलादावपि विलयात्साम्रसाः सन्त्युपलब्धितः ।  
 कृप्यादौ च प्रसा मन्ति विलयात्ता भित्तिमण्डले ॥ १४४ ॥  
 नैव यनोऽनभिज्ञोमि हिमाणुप्रतलक्षणं ।  
 सत्पुणाम्यवहारित्वं भुंजानो द्विरदादिषन् ॥ १४५ ॥





उक्तं च ।

सम्माहृती जीवो उघहृष्टं पवयन् च सहृदि ।  
 सहृदि असम्भावं अजाणमाणो गुरुणिषोणा ॥  
 अत्र सूत्रे चकारस्य मह्यं विद्यते स्फुटम् ।  
 तस्यार्थष्टीकाकारेण टीकायां प्रकटीकृतः ॥ १३५ ॥  
 टीका व्याख्या यथा कश्चिच्छ्रीवो यः सम्यग्दृष्टिमान् ।  
 उपदिष्टं प्रवचनं जिनोक्तं धरधाति सः ॥ १३६ ॥  
 चकारमहणादेव न कुर्यात्प्रसहिसनम् ।  
 विना कार्यं कृपाद्वैवात्प्रशमादिगुणान्वितः ॥ १३७ ॥  
 एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे ।  
 स एवार्थो यद्यत्रापि प्रतित्वं हि कुतोऽर्थतः ॥ १३८ ॥  
 तत्प्रश्नमगुणस्थाने दिग्मात्रं प्रतमिच्छता ।  
 प्रसकायधर्मात् या क्रिया त्याज्यागित्वापि च ॥ १३९ ॥  
 ननु जलानलोर्व्यग्रसद्भनस्वनिकेषु च ।  
 प्रवृत्तौ तच्छिष्टताद्धानां प्रसानां तत्र का कथा ॥ १४० ॥  
 नैव दोषोत्पदोपत्वाद्यद्वा शक्यविवेचनान् ।  
 निष्प्रमादतया तत्र रक्षणे यत्नतत्परान् ॥ १४१ ॥  
 एवं चेशर्हि कृप्यादौ को दोषस्तुल्यकारणान् ।  
 अशक्यपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवान् ॥ १४२ ॥  
 अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्यावश्यभाषतः ।  
 प्रमत्तयोगाद्यभावस्य यथासं सम्भवादपि ॥ १४३ ॥  
 जलादावपि विरुधावात्प्रसाः मन्त्युपलब्धितः ।  
 कृप्यादौ च प्रसाः सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥ १४४ ॥  
 नैवं यतोऽनभिसोसि हिंसाणुप्रतलक्षणे ।  
 -सकृपाभ्यवहारित्वं भुञ्जानो द्विरदादिवन् ॥ १४५ ॥

धन्म्यहं लक्षणं तस्य सावधानतया शृणु ।  
 क्षणं प्रमादमुत्मृज्य गर्हितावद्यकारणम् ॥ १४६ ॥  
 अणुत्वमल्पीकरणं तद्य गृद्धेरिहार्थतः ।  
 यथावशस्य हिंसादेर्द्रोषोक्तविषयस्य च ॥ १४७ ॥  
 कृप्यादयो महारम्भाः क्रूरकर्माज्जनश्रमाः ।  
 तत्क्रियानिरतो जीवः कुतो हिंसावकाशवान् ॥ १४८ ॥  
 नचाशङ्क्यं हि कृप्यादिमहारम्भे क्रिया तु या ।  
 सत्स्वल्पीकरणं चार्थाद्धिमाणुव्रतमिष्यते ॥ १४९ ॥  
 यतः स्वल्पीकृतोप्यत्र महारम्भः प्रवर्तते ।  
 महावद्यस्य हेतुत्वात्तद्वाङ्माणुव्रती भवेत् ॥ १५० ॥  
 अलं वा बहुनोक्तेन वावदूकतयाप्यलम् ।  
 त्रसर्हिमाक्रिया व्याज्या हिंसाणुव्रतधारिणा ॥ १५१ ॥  
 ननु त्यक्तुमशक्यस्य महारम्भानशेषतः ।  
 इच्छतः स्वल्पीकरणं कृप्यादेस्तस्य का गतिः ॥ १५२ ॥  
 अस्ति सम्यग्गतिस्तस्य साधु साधीयसी जिनैः ।  
 कार्या पुण्यफलाश्लाघ्या क्रियामुत्रेह मौख्यदा ॥ १५३ ॥  
 यथाशक्ति महारम्भात्स्वल्पीकरणमुत्तमम् ।  
 विलम्बो न क्षणं कार्यो नात्र कार्यो विचारणा ॥ १५४ ॥  
 हेतुरस्त्यत्र पापस्य कर्मणः संवरोऽशतः ।  
 न्यायागतः प्रवाहश्च न केनापि निवार्यते ॥ १५५ ॥  
 साधितं फलवन्न्यायात्प्रमाणितं जिनागमात् ।  
 युक्तेः स्वानुभवाद्यापि कर्तव्यं प्रकृतं महत् ॥ १५६ ॥  
 तत्रागमो यथा सूत्रादात्तवाक्यं प्रकीर्तितम् ।  
 पूर्वापराविरुद्धं यत्प्रत्यक्षाद्यैरवाधितम् ॥ १५७ ॥

उक्तं च ।

यथार्थदर्शिनः पुंसो यथादृष्टार्थवादिनः ।  
 उपदेशः परार्थो यः स इहागम उच्यते ॥

आगमः स यथा द्वेषा हिंसादेरपकर्षणम् ।  
 यमादेकं द्वितीयं तु नियमादेव केवल्यात् ॥ १५८ ॥  
 यमस्तत्र यथा यावज्जीवनं प्रतिपालनम् ।  
 दैवाद्घोरोपसर्गेऽपि दुःखे घामरणावधि ॥ १५९ ॥  
 यमोऽपि द्विविधो ज्ञेयः प्रथमः प्रतिमान्वितः ।  
 अन्यः सामान्यमात्रत्वात्स्पष्टं तद्भ्रमणं यथा ॥ १६० ॥  
 यावज्जीवं प्रसानां हि हिंसादेरपकर्षणम् ।  
 सर्वतस्तत्क्रियायाश्चेत्प्रतिमारूपमुच्यते ॥ १६१ ॥  
 अथसामान्यरूपं तद्यदल्पीकरणं मनाक् ।  
 यावज्जीवनमप्येतदेशतो न ( तु ) सर्वतः ॥ १६२ ॥  
 आह कृपीवल् कश्चिद्विशतं न च करोम्यहम् ।  
 शतमात्रं करिष्यामि प्रतिमास्य न कापि सा ॥ १६३ ॥  
 नियमोऽपि द्विधा ज्ञेयः सावधिर्जीवनावधिः ।  
 प्रमहिंसाक्रियायाश्च यथाशक्त्यपकर्षणम् ॥ १६४ ॥  
 सावधिः स्वायुषोयावदवांगेव प्रतावधिः ।  
 ऊर्ध्वं यथात्मसामर्थ्यं कुर्याद्वा न यथेच्छया ॥ १६५ ॥  
 पुनः कुर्यात्पुनस्त्यक्त्वा पुनः कृत्वा पुनस्त्यजेत् ।  
 न त्यजेद्वा न कुर्याद्वा फारं फारं करोति च ॥ १६६ ॥  
 अस्ति कश्चिद्विशेषोऽपि द्वयोर्यमनियमयोः ।  
 नियमो षट्प्रतिमायां प्रतस्थाने यमो मतः ॥ १६७ ॥  
 अयं भावो प्रतस्थाने वा क्रियाभिमतता सत्ताम् ।  
 तां सामान्यतः कुर्वन्सामान्ययम उच्यते ॥ १६८ ॥  
 प्रतिमायां क्रियायां तु प्रागेवात्रापि सूचिता ।  
 यावज्जीवं हि तां कुर्वन्निियमोऽनवधिः स्मृतः ॥ १६९ ॥

उक्तं मम्यद् परिज्ञाय गृह्ण्यो प्रतमाचरेत् ।  
 यथाशक्ति यथाकालं यथादेशं यथाययः ॥ १७७ ॥  
 प्रसहिमाक्रियात्यागो यदि कर्तुं न शक्यते ।  
 प्रतस्थानाप्रहेणालं दर्शनेनैव पूर्यताम् १७८ ॥  
 प्रतस्थानक्रियां कर्तुमशक्योपि यदात्मति ।  
 प्रतमन्योपि संमोहाद्प्रताभामोमि न प्रती ॥ १७९ ॥  
 अलं कौलाहलेनालं कर्तव्याः श्रेयसः क्रियाः ।  
 फलमेव हि माध्यं स्यात्सर्वारम्भेण धीमता ॥ १८० ॥  
 प्रसहिमाक्रियात्यागशब्दः स्यादुपलक्षणम् ।  
 तेन भूकायिकादीश्च निःशङ्कं नोपमर्दयेत् ॥ १८१ ॥  
 किन्तु चैकाग्रजीवेषु भूजलादिषु पञ्चसु ।  
 अहिमाप्रतशुद्धयर्थं कर्तव्यो यत्रो महान् ॥ १८२ ॥  
 प्रसहिमाक्रियात्यागी महारम्भं परित्यजेत् ।  
 नारकाणां गतेर्बीजं नूनं तद्दुःस्वकारणम् ॥ १८३ ॥

उक्तं च ।

मिच्छो हु महारम्भो निम्नीलो तिब्बलोहसंजुप्तो ।  
 निरयाउगं णिचद्धइ पावमयी रुद्रपरिणामो ॥  
 क्रूरं कृप्यादिकं कर्म सर्वतोपि न कारयेत् ।  
 वाणिज्यार्थं विदेशेषु शकटादि न प्रेषयेत् ॥ १८४ ॥  
 क्रयविक्रयवाणिज्ये क्रयेद्वस्तु प्रसोऽज्ञितम् ।  
 विक्रयेद्वा तथा वस्तु नूनं सावद्यवर्जितम् ॥ १८५ ॥  
 वाणिज्यार्थं न कर्तव्योऽतिकाले धान्यसंग्रहः ।  
 घृततैलगुडादीनां भाण्डागारं न कारयेत् ॥ १८६ ॥  
 लाक्षालोष्टक्षणक्षारशस्त्रचर्मादिकर्मणाम् ।  
 इस्त्यश्ववृषादीनां चतुष्पदानां च यावताम् ॥ १८७ ॥  
 द्विपदानां च वाणिज्यं न कुर्याद्प्रतवानिह ।  
 महारम्भो भवत्येव पशुपात्यादिकर्मणि ॥ १८८ ॥

शुक्रवृषुरभात्रीरुक्मिर्हिंसृगादयः ।

न रक्षणीयाः स्वामित्वे महाहिंसाकरा यतः ॥ १८२ ॥

इत्यादिकाश्च यावन्त्य त्रियास्त्रमपधात्मिकाः ।

न कर्तव्यास्त्रसानां हि हिंसाशुभ्रतधारिभिः ॥ १८३ ॥

सर्वसागारधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते ।

नेनानगारयोग्याया कर्तव्यास्ता अपि क्रियाः ॥ १८४ ॥

यथा समितयः पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुणयः ।

अहिंसाप्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि वै ॥ १८५ ॥

उक्तं तत्त्वार्थसूत्रेषु यत्तत्रावसरे यथा ।

प्रतस्थैर्याय कर्तव्या भावना पञ्च पञ्च च ॥ १८६ ॥

तत्सूत्रं यथा—“ तत्त्वैर्यायं भावनाः पञ्च पञ्च ” तत्रापि हिंसा-  
त्यागप्रतरक्षार्थं—“ वाग्मनोगुर्नार्यादाननिष्पसमित्यालोकितपान  
भोजनानि पञ्च ”

नचाशङ्क्यमिमाः पञ्च भाषना मुनिगोचराः ।

न पुनर्भाषनीयान्ता देशतो प्रतधारिभिः ॥ १८७ ॥

यतोत्र देशशब्दो हि सामान्यादनुवर्तते ।

ततोऽशुभ्रतमंशेषु प्रतत्वाभाख्यापको भवेत् ॥ १८८ ॥

अलं विकल्पसंकल्पैः कर्तव्या भावना इमाः ।

अहिंसाप्रतरक्षार्थं देशतोऽणुमनादिबन् ॥ १८९ ॥

तत्र धाम्गुन्निरित्युक्ता प्रसवाधाकरं वचः ।

न वक्तव्यं प्रमादाद्वा वधवन्धादिसूचकम् ॥ १९० ॥

अवश्यंभाधिकार्येषु वक्तव्यं सकृदेव तत् ।

धर्मकार्येषु वक्तव्यं यद्वा मौनं समाभयेत् ॥ १९१ ॥

मनोगुन्नियथानाम प्रसच्छेदे न चिन्तयेत् ।

समुत्पन्नेषु तत्त्वार्थे जने वा सापराधिनि ॥ १९२ ॥

सह्यमादिविधौ चिन्तां न कुर्यान्नैष्ठिको भवी ।

अप्रती पाञ्चिक कुर्यादैशयोगात्कदाचन ॥ १९३ ॥

नैष्ठिकोऽपि यदा क्रोधान्मोहाद्वा सङ्गरक्रियाम् ।  
 कुर्यात्तावतिकाले स भवेदात्मप्रताच्युतः ॥ १९४ ॥  
 प्रमहिमाक्रियायां वा नापि ह्यापारेयन्मनः ।  
 मोहाद्वापि प्रमादाद्वा स्वामिकार्येकृतेऽपि वा ॥ १९५ ॥  
 वीतरागोक्तधर्मेषु हिसाधद्यं न वर्तते ।  
 क्रुद्धिधर्मादिकार्येषु न कुर्यात्प्रसहिंसनम् ॥ १९६ ॥  
 क्रुद्धिधर्मे निषिद्धा वेत्कामार्थयोस्तु का कथा ।  
 मञ्जन्ति द्विरदा यत्र मशकाम्स्तत्र किं पुनः ॥ १९७ ॥  
 इषीकार्थादिदुर्भ्यांनं धञ्जनार्थं स नैष्ठिकः ।  
 चिन्तयेत्परमात्मानं स्वं शुद्धं चिन्मयं महः ॥ १९८ ॥  
 यद्वा पद्मपरमेष्ठिस्वरूपं चिन्तयेन्मुहुः ।  
 यद्वा त्रैलोक्यमंस्थानं जीवांस्तद्वर्तिनोऽथवा ॥ १९९ ॥  
 जगत्कायस्वभावो वा चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः ।  
 द्वादशाप्राप्यनुप्रेक्षाः धारयेन्मनसि भुवम् ॥ २०० ॥  
 यद्वा दृष्टिचरानत्र त्रिनविम्बांश्च चिन्तयेत् ।  
 मुनीन् देवालयांश्चापि तत्पूजादिविधीनपि ॥ २०१ ॥  
 इत्याद्यालम्बनांश्चित्ते भावयेद्भावशुद्धये ॥  
 न भावयेत्कदाचिद्वै प्रमहिमां क्रियां प्रति ॥ २०२ ॥  
 उच्छा वाग्गुप्तिरत्रैव मनोगुप्तिस्तथैव च ।  
 अधुना कायगुप्तेश्च मेदान् गृह्णानिगूययित् ॥ २०३ ॥  
 तत्रैयांश्चाननि शेषभावना.कायमंभिताः ।  
 साधनीया. मशकामैराजवंतवविच्छिदे ॥ २०४ ॥  
 अत्रैयांश्चनं यावद्धर्मापकरणं मतम् ।  
 तस्यादानं च नि शेषममासात्ततथा स्मृतः ॥ २०५ ॥  
 अग्यार्थो मुनिमापेशः विच्छिद्य च कमण्डलुः ।  
 प्रसरत्प्रतापैश्चः पूजोत्तरणानि च ॥ २०६ ॥

वपुषामर्द्धावाग्ध पराश्रयत्रादिबान् ।  
 वनानाद्यर्थं जग्यादीन्ध धीनवस्थादिबान्वि ॥ २०७ ॥  
 देशानाद्यगरे शान्ते दानकाले तु भोजनम् ।  
 ब्राह्मणादिश्च दृष्टं काले श्यामाधिकेऽपि च ॥ २०८ ॥  
 इत्याग्नेयं भेदानि धर्मोपकरणानि च ।  
 निष्प्रमादतया तत्र शायो वानो बुधैर्यथा ॥ २०९ ॥  
 हृन्म्यो मन्व्यधिरिन्द्रयादौ धाननं प्रतिहेतयेत् ।  
 ममादाय तत्र तत्र शौचे दयापादयत्यपि ॥ २१० ॥  
 दृष्टपुत्रं यथादानं निक्षेपापि यथा व्रतम् ।  
 दृष्टा श्यानादिकं दृष्टं तत्र नानि विनिक्षिपेत् ॥ २११ ॥  
 इत् नमिसयः पद्म बह्यन्ते नानिविगतरान् ।  
 मन्व्यगौरवतोऽप्यत्र मोक्षप्रताः संयतोधिनाः ॥ २१२ ॥  
 संयताभेयतम्याभय मोक्षत्रय गृहमेधिना ।  
 ममितयो या योग्याः श्रुतैर्यन्ते ताः क्रमादपि ॥ २१३ ॥  
 ईशोममितिरप्यन्ति वर्तय्या गृहमेधिना ।  
 अत्रेयोऽप्यदो वाच्योऽस्ति मार्गोऽयं मतिगोचरः ॥ २१४ ॥  
 दृष्टा दृष्टा दानैः मन्व्ययुगद्व्यां धर्मां पुरः ।  
 निष्प्रमादो गृहो मन्वेदीशोममितिरुच्यते ॥ २१५ ॥  
 किञ्च तत्र विवेकोऽस्ति विधेयस्त्रमरश्चक्रे ।  
 बहुश्रगाकुटे मार्गे न गन्तव्यं कदाचन ॥ २१६ ॥  
 तत्र विचारो मागेष देशकालगतियथा ।  
 मृष्ट्याः साधवो यदा तत्र न मार्गोऽवलोकितः ॥ २१७ ॥  
 निक्षिप्य प्रागुक्तं मार्गं बहुश्रगैरनाधितम् ।  
 ईशोममितिसंशुद्धस्तत्र गच्छेन्नवान्यथा ॥ २१८ ॥  
 मन्वेत्प्रतिदि दैवाद्येऽप्युरोमार्गोऽस्तिमाकुलः ।  
 नदा दयापुहनें कुर्यात्कुर्याद्वा धीरकर्मवत् ॥ २१९ ॥



वीरकर्म यथा तत्र पर्यङ्गाद्यासनेन वा ।  
 कायोत्सर्गेण वा तिष्ठेद्योगिवशोगमार्गवित् ॥ २२० ॥  
 यावत्तस्योपसर्गस्य निवृत्तिर्या वपुःश्रुतिः ।  
 यद्वायधियथाकालं नीत्वाऽस्तीतस्ततो गतिः ॥ २२१ ॥  
 सर्वारम्भेण तात्पर्यं प्रत्यक्षात्प्रससङ्कुले ।  
 मार्गे पादौ न क्षेमज्यौ व्रतिनां मरणावधि ॥ २२२ ॥  
 किञ्च रजन्यां गमनं न कर्तव्यं दीर्घध्वनि ।  
 दृष्टिचरे शुद्धे स्वल्पे न निपिद्धा मार्गेगतिः ॥ २२३ ॥  
 अश्वाद्यारोहणं मार्गे न कार्यं व्रतधारिणा ।  
 ईर्यासमितिसंशुद्धिः कुतःस्यात्तत्र कर्मणि ॥ २२४ ॥  
 इतीर्यासमितिः प्रोक्ता संक्षेपाद्ब्रतधारिणः ।  
 यद्दोषासकाध्ययनान् ज्ञातव्यातीर्षविस्तरान् ॥ २२५ ॥  
 अप्यस्ति भाषासमितिः कर्तव्या मङ्गवासिभिः ।  
 अवश्यं देशमात्रत्वात्सर्वथा मुनिकुञ्जरैः ॥ २२६ ॥  
 वचो धर्माश्रितं वाच्यं वरं मौनमथाश्रयेत् ।  
 हिंसाश्रितं न तद्वच्यं भाषासमितिरिष्यते ॥ २२७ ॥  
 इतिसंक्षेपतस्तस्या लक्षणं चात्र सूचितम् ।  
 मृषात्यागप्रताड्याने वक्ष्यामीपत्सविस्तरान् ॥ २२८ ॥  
 एषणाममितिः कार्या श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ।  
 यथा सागारधर्मस्य स्थितिर्मुनिव्रतस्य च ॥ २२९ ॥  
 यतो व्रतसमूहस्य शरीरं मूलसाधनम् ।  
 आहारस्तस्य मूलं स्यादेपणासमितावमौ ॥ २३० ॥  
 एषणासमितिर्नाम्ना संक्षेपाद्लक्षणादपि ।  
 आहारशुद्धिराख्याता सर्वव्रतविशुद्धये ॥ २३१ ॥  
 उक्तमांसाद्यतीचारैर्वर्जितो योऽशनादिकः ।  
 स एव शुद्धो नान्यस्तु मांसातीचारसंयुतः ॥ २३२ ॥



आमगोरससंपृक्तं द्विदलात्रं परित्यजेत् ।  
 झालायाःस्पर्शमात्रेण त्वरितं बहुमुच्छंनात् ॥ २४५ ॥  
 भोज्यमध्यादशेषांश्च दृष्ट्वा प्रसक्तलेवराम् ।  
 यद्वा समूलतो रोम दृष्ट्वा सद्यो न भोजयेत् ॥ २४६ ॥  
 चर्मतोयादिसाम्मिश्रात्सदोषमशनादिकम् ।  
 परिक्षायेद्वितैः सूक्ष्मैः कुर्यादाहारवर्जनम् ॥ २४७ ॥  
 श्रवणाद्विसक्तं शब्दं मारयामीति शब्दवत् ।  
 दग्धो मृतः स इत्यादि श्रुत्वा भोज्यं परित्यजेत् ॥ २४८ ॥  
 शोकाश्रितं वचः श्रुत्वा मोहाद्वा परिदेवनम् ।  
 दीनं भयानकं श्रुत्वा भोजनं त्वरितं त्यजेत् ॥ २४९ ॥  
 उपमानोपमेयाभ्यां तदिदं पिशितादिवत् ।  
 मनःस्मरणमात्रत्वात्कृत्स्नमन्नादिकं त्यजेत् ॥ २५० ॥  
 सूतकं पातकं चापि यथोक्तं जैनशासने ।  
 एषणाशुद्धिसिद्धयर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः ॥ २५१ ॥  
 एषणासमितिःख्याता संक्षेपात्सारसंग्रहात् ।  
 तन्नान्तराद्विशेषज्ञैर्ज्ञातव्यास्ति सुविस्तरात् ॥ २५२ ॥  
 अस्ति चादाननिक्षेपस्वरूपा समितिः स्फुटम् ।  
 यस्माभरणपात्रादिनिखिलोपधिगोचराः ॥ २५३ ॥  
 यावन्त्युपकरणानि गृहकर्मोचितानि च ।  
 तेषामादाननिक्षेपौ कर्तव्यौ प्रतिलेख्य च ॥ २५४ ॥  
 प्रतिष्ठापननाम्नी च विख्याता समितिर्यथा ।  
 श्रवणदुर्दशद्वारा मलमूत्रादिगोचरा ॥ २५५ ॥  
 निश्चिच्छत्रं प्रामुक्तं स्थानं सर्वदोषविबर्जितम् ।  
 दृष्ट्वा प्रमाग्यं सागारो यच्चोमूत्रादि निक्षिपेत् ॥ २५६ ॥  
 अस्ति चालोकिसपानभोजनाख्याय पञ्च ताः ।  
 भावना भावनीया स्यादहिसात्रनहेतये ॥ २५७ ॥

शुद्धं शोधितं चापि मिष्टं भक्षणदिभोजनम् ।  
सावधानतया भूयो दृष्टिपूर्वं च भोजयेत् ॥ २५८ ॥

नषानप्यवसायेन दोषेजानवधानतः ।  
मया दृष्टपरं पैतन्मत्वा भोग्यं न भोजयेत् ॥ २५९ ॥

तत्र यद्यपि भक्त्यादि शुद्धमस्तीति निश्चितम् ।  
तथापि दोष एव स्यात्प्रमादादिकृतो महान् ॥ २६० ॥

मन्ति तत्राप्यतीघारा पद्म सूत्रेपि लभिताः ।  
प्रमादिसापारित्यांगलक्षणेऽणुप्रताह्वये ॥ २६१ ॥

तत्सूत्रं यथा-यपयन्धरुडेदानिभारारोपणाप्रपाननिरोधाः ।  
अशोकं वधशब्देन ताडनं यष्टिकादिभिः ।

प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात्प्राणिहत्या न भेषसी ॥ २६२ ॥  
पशूनां गोमादिष्यादिछागवारणवाजिनाम् ।

तन्नाशानिरिच्छं चाथां न कुर्याद्वा कशादिभिः २६३ ॥  
बन्धो मात्राधिको गाढं दुःखदं भृंगलादिभिः ।

आवताया (?) प्रमादाद्वा न कुर्यात्प्राणकोत्तमः ॥ २६४ ॥  
छेदो नाशादिछिद्रार्थं काष्ठमूलादिभिः कृतः ।

तावन्मात्रानिरिच्छं तत्रविधेयं प्रतिमान्धितै ॥ २६५ ॥  
सापरार्थे मनुष्यादौ कर्णनाशादि छेदनम् ।

न कुर्याद्द्रूपकल्पोऽपि प्रतवानपि वधन ॥ २६६ ॥  
भारः चाष्ठादिलोष्ठाप्रपृतवैलजलादिषुम् ।

नेतुं क्षेत्रान्तरं क्षिप्तं मनुजाश्रिकादिषु ॥ २६७ ॥  
यावत्प्रस्थासि सामर्ष्यं तावत्तत्रैव निक्षिपेत् ।

नातिरिक्तं ततः कापि निक्षिपेद् प्रतपारकः ॥ २६८ ॥  
दासीदामादिभृत्यानां बन्धुमित्रादिप्राणिनाम् ।

सामर्ष्यानिष्क्रमः कापि कतव्यो न विषक्षणेः ॥ २६९ ॥  
अप्रपाननिरोधारूप्यो प्रतदोषोसि पद्ममः ।

निरस्त्रां वा नराणां वा गोषटः स स्मृतो यथा ॥ २७० ॥

नराणां गोमहिष्यादितिरश्वा वा प्रमादतः ।  
 वृणाद्यन्नादिपातानां निरोधो व्रतदोषकृन् ॥ २७१ ॥  
 बहुप्रलपितेनालं ज्ञेयं तात्पर्यमाग्रतः ।  
 सा क्रिया नैव कर्तव्या यथा व्रतदोषो भवेत् ॥ २७२ ॥  
 इत्युक्तमात्रदिग्मात्रं सागारार्हमणुव्रतम् ।  
 व्रतहिंसापरित्यागलक्षणं विश्वसाक्षिभिः ॥ २७३ ॥

इति श्रीस्य्याद्वादानयद्यप्यविद्याविशारद विद्वन्मणिराजमह  
 विरचितायां श्रावकाचारापरनाम छाटीसंहितायां साधुभी  
 द्वात्मज कामन मनःसरोजारविन्दविकाशनेक-  
 मातण्डमण्डलायमानायां व्रतहिंसापरित्याग  
 प्रथमाणुव्रत वर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ।

## अथ षष्ठः सर्गः ।

व्रतहिंसापरित्यागलक्षणं षडणुव्रतम् ।  
 साधुद्दाहजोशामकामनाख्यं पुनानु तन् ॥ १ ॥  
 इत्यर्थावधिः ।

अथमूषापरित्यागलक्षणं व्रतमुच्यते ।  
 सर्वतन्मन्मुनीना स्यादेततो येशमथामिनाम् ॥ १ ॥  
 प्राद्या तत्रानुवृत्ति सा प्राग्बुध्यापि धीधनैः ।  
 प्रोक्तममदभिधानमनृतं मूत्रकारकैः ॥ २ ॥  
 अर्मादिति दिमाकरमभिधानं स्याद्भाग्यम् ।  
 शब्दानामनेकार्थत्वाद्भ्रान्तिध्यायानुसारिणी ॥ ३ ॥  
 नात्रामदिति शब्देन मूषामात्रं समस्यते ।  
 माकारमन्त्रभेदादौ मूलतत्त्वानुपहृतः ॥ ४ ॥  
 देशतो विरतिस्तत्र मूत्रमित्यनुवर्तते ।  
 व्रतवाधाकरं तस्माद्बुधो वाच्यं न धीमता ॥ ५ ॥

मत्संमेष्यसत्यतां याति कश्चिद्दिमानुबन्धतः ।

सर्वतन्मत्र वक्तव्यं यथा चोरादिदर्शनम् ॥ ६ ॥

असत्यं मत्यतां याति कश्चिर्ज्ञावस्य रक्षणान् ।

अशक्षुषा मया चोरो न दृष्टोऽस्मिन् यथाश्वनि ॥ ७ ॥

सत्रामत्यवचमस्यागप्रतरक्षार्थमेव याः ।

भाषनाः पञ्च सूत्रोक्तः भाषनीया प्रतार्थिभिः ॥ ८ ॥

तत्सूत्रं यथा क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुषीचिभाषणं च पञ्च ।

यत्र क्रोधप्रत्याख्यानं यत्रो वाच्यं मनीषिभिः ।

स्वपराभिनभेदेन तद्वचश्च द्विधोच्यते ॥ ९ ॥

स्वयं क्रोधेन मत्यं वा न वक्तव्यं कदाचन ।

न च वाच्यं वचस्तद्वचरेषां क्रोधकारणम् ॥ १० ॥

यथा क्रोधस्तथा मानं माया लोभस्तथैव च ।

तेषामवघहेतुत्वे मृषावादाविशेषतः ॥ ११ ॥

हास्योऽस्मितं च वक्तव्यं न च हास्याभितं कश्चित् ।

तदपि द्विविधं ज्ञेयं स्वपरोभयभेदतः ॥ १२ ॥

स्वयं हास्यवता भूत्वा न वक्तव्यं प्रमादतः ।

न च वाच्यं परेषां वा हास्यहेतुर्विचक्षणैः ॥ १३ ॥

हास्योपलक्षणेनैव नोकपाया नयेति ये ।

तेषु त्याग्या मृषालागप्रतसंरक्षणार्थिभिः ॥ १४ ॥

भीमत्वोत्पादकं रौद्रं यत्रो वाच्यं न श्रावकैः ।

अवश्यं वन्धहेतुत्वासीद्वासातादिकर्मणाम् ॥ १५ ॥

आलोचितं च वक्तव्यं न वाच्यमनालोचितम् ।

पौर्यादिविक्रयाख्यानं न वाच्यं पापभीरुणा ॥ १६ ॥

अत्रासत्यपरित्यागप्रतेऽतीचारपञ्चकम् ।

प्रामाणिकं प्रसिद्धं स्यात्सूत्रेष्युक्तं महर्षिभिः ॥ १७ ॥

तत्सूत्रं यथा—मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यान कूटलेखक्रियान्या  
हारसाकारमन्त्रभेदाः ।

तत्र मिथ्योपदेशारूयः परेषां प्रेरणं यथा ।

अहमेवं न वक्ष्यामि वद् स्वं मम मन्मनात् ॥ १८ ॥

रहोभ्याख्यानमेकान्ते गुह्यवार्ताप्रकाशनम् ।

परेषां शङ्कया किञ्चिद्धेतोरस्त्यत्र कारणम् ॥ १९ ॥

कूटलेखाक्रिया सा स्याद्वचनार्थं लिपिर्मुषा ।

सा न साक्षात्तया तस्या मृषानाचारसम्भात् ॥ २० ॥ -

किन्तु स्वल्पा यथा कश्चित्किञ्चित्प्रत्यूहनिस्पृहः ।

इदं मदीयपत्रेषु मर्धं न लिपीकृतम् ॥ २१ ॥

न्यासम्याप्यपहारो यो न्यासापहार उच्यते ।

सोऽपि परस्य सर्वस्वहरो नैव स्वलक्षणात् ॥ २२ ॥

किञ्च कश्चिदपि मार्थः कस्यचिद्धनिनो गृहे ।

न्यासयित्वाधनादीनि स्वयं न्यातान्तरं गतः ॥ २३ ॥

वदत्येवं स लोकानां पुरस्तादिह निन्दयात् ।

भृतं न मे गृहे किञ्चित्तेनाऽमाऽर्थेन गच्छता ॥ २४ ॥

उक्तो न्यासापहारः स प्रसिद्धोऽनर्थमूषकः ।

मृषान्यागप्रतम्योषैः दोषः स्यात्प्रयत्नोमहान् ॥ २५ ॥

साक्षारमन्त्रभेदोऽपि दोषोतीचारसंशकः ।

न वक्तव्यं कदाचिद्वै नैत्रिकैः श्रावकोत्तमैः ॥ २६ ॥

दुर्लभमर्थं गुह्यं यत्परेषां मनसि स्थितम् ।

कथं चिद्विज्ञितैर्ज्ञान्या न प्रकाश्यं प्रवार्थिमिः ॥ २७ ॥

ननु यैवं मदीयोऽयं मामो देशोऽथवा नरः ।

इत्येवं यत्रगन्मर्धं वदत्येवमृषा वचः ॥ २८ ॥

मैवं प्रमत्तयोगाद्दे सूत्रादित्यनुवर्तते ।  
 तस्याभावात्त दोषोऽस्ति तद्भावे दोष एव हि ॥ २९ ॥  
 एवं संख्यबहाराय स्याददोषो नयात्मके ।  
 नास्ति च स्थापनायां च दृश्ये भावे जगत्त्रये ॥ ३० ॥  
 अस्ति स्तेयपरित्यागो व्रतं धानु तथा महत् ।  
 देशतः सर्वतश्चापि त्यागश्चैविध्यसम्भवान् ॥ ३१ ॥  
 तद्वक्षणं यथा सूत्रे सूक्तं मूत्रविदारदै ।  
 अदत्तादानं स्तेयं स्यात्तदयं कथ्यतेऽधुना ॥ ३२ ॥  
 अदत्तरय यदादानं पौर्यमित्युच्यते पुष्टे ।  
 अर्थान्ध्यामिगृहीतार्थे मदद्रव्ये नेतरे पुन ॥ ३३ ॥  
 अन्यथा सर्वलोकमिभ्रनिज्यातिः पदे पदे ।  
 अनगारैश्च दुर्वारा विशङ्किर्गोपुरादिषु ॥ ३४ ॥  
 सर्वतः सर्वविषयं देशतमसगोचरम् ।  
 यतो सागारिणां न स्यात्त्रह्यारिपरिवर्जनम् ॥ ३५ ॥  
 देशतः स्तेयमत्यागलक्षणं गृहिणां व्रतम् ।  
 अदत्तं वस्तु नादेयं यस्मिन्नस्ति प्रसाश्रयः ॥ ३६ ॥  
 रक्षार्थं तस्य कर्तव्या भावनाः पञ्च नित्यशः ।  
 सर्वतो मुनिनाथेन देशतः भावकैरपि ॥ ३७ ॥  
 तत्सूत्रं यथा-शून्यागारविमोचितावास परोपरोधाकरणं  
 शुद्धिमद्धर्माविसंवादाः पञ्च ।  
 शून्यागारेषु चाशान्ता मूर्ध्नां गह्वरादयः ।  
 तदिन्द्रादिविरोधेन न घाल्यमिहामुना ॥ ३८ ॥  
 किन्तु प्राक् प्रार्थनामित्थं कृत्वा तत्रापि संविशेत् ।  
 प्रसीदाग्रत्य भो देव ! पंचरात्र वसान्यहम् ॥ ३९ ॥  
 नि स्वामित्वेन संत्यक्ताः गृहाः सन्त्युद्धसाह्वयाः ।  
 प्राग्बदत्रापि वसति न कुप्यात्कुर्याद्वा तथा ॥ ४० ॥



स्वामित्वेन वसत्यादि परैः स्यादुपरुन्धितम् ।  
 परोपरोधाकरणमाहुः सूत्रविशारदाः ॥ ४१ ॥  
 तत्स्वामिनमनापृच्छय स्वातव्यं न गृह्णतैः ।  
 स्वातव्यं च तमापृच्छय दीयमानं तदाशया ॥ ४२ ॥  
 भैक्ष्यशुद्धयविसंवादो भावनीयो प्रनार्थिना ।  
 सर्वतो मुनिनाथेन देशतो गृहमेधिना ॥ ४३ ॥  
 नादेयं केनापि हत्तमन्येनातस्वामिना ।  
 तत्स्वामिनश्च प्रच्छन्नवृत्त्या तत्स्याददत्तवत् ॥ ४४ ॥  
 आत्मधर्मं सधर्मी स्यादर्थाज्ञैर्नो मत्तान्वितः ।  
 तेन कारापितं यावज्जिनधैत्यगृहादि यत् ॥ ४५ ॥  
 तत्रापि निवसेद्धीमान् क्षणं यावत्तदाशया ।  
 तदाज्ञामन्तरेणेह न रथातरुयमुपेक्षया ॥ ४६ ॥  
 भावनापत्राहं यावदत्रोक्तं पांशमात्रतः ।  
 म्यर्णाद्यपि च नादेयमदत्तं वमनादि वा ॥ ४७ ॥  
 अत्रापि मन्त्यतीचाराः पश्येति सूत्रमम्मताः ।  
 त्याग्याः श्लेषपरित्यागप्रतसंशुद्धिदेशवे ॥ ४८ ॥

उक्तं च—“ स्नेनप्रयोगं तदाहतादानं विद्वद्गुराभ्यादिभ्यः  
 धिकमानोन्मानं प्रतिरूपकं व्यवहाराः ।

परस्य प्रेरणं श्लोभात्स्नेयं प्रति मनीषिणा ।  
 स्नेनप्रयोग इत्युक्तः स्नेयार्ताचारमेशकः ॥ ४९ ॥  
 अत्रेतिनेन केनापि दम्बुना स्वयमाहृतम् ।  
 गृह्णते धनधान्यादि तदाहतादानं स्पृगम् ॥ ५० ॥  
 नादेयं दीयमानं वा पुण्यदानेन चापि नत् ।  
 स्नेययागप्रतस्याग्यं स्वामिनात्मद्विनैषिणा ॥ ५१ ॥  
 गम्यान्नापिनमात्मन्धं युक्तं वाऽप्युक्तमेव तत् ।  
 चित्तने न यदा न स्याद्विद्वद्गुराभ्यादिभ्यः ॥ ५२ ॥

कर्तव्यो न कदाचित्प्रकृतप्रतधारिणा ।  
 आरक्षाममुत्र सेनार्तिरिहानर्थपरंपरा ॥ ५३ ॥  
 भ्रेतुं मानाधिकं मानं विभ्रेतुं न्यूनमात्रकम् ।  
 हीनाधिकमानोन्माननामार्तीचारमंशकः ॥ ५४ ॥  
 सर्वारम्भेण स्याज्ज्योऽयं गृह्ण्येन प्रणार्थिना ।  
 इद्देषाकीर्तिसन्तानःस्याद्मुत्र च दुःखदः ॥ ५५ ॥  
 निश्रेयणं समर्थस्य महार्थे वक्ष्यनाशया ।  
 प्रतिरूपकनामा स्याद् व्यवहारो प्रतक्षतौ ॥ ५६ ॥  
 स्तेयत्यागप्रतारुदैनोदेष- श्रावकोत्तमैः ।  
 अस्त्यर्तीचारमंशोपि सर्वदोषाधिपो महान् ॥ ५७ ॥  
 उक्तातिचारनिमुक्तं तृतीयप्रतमुत्तमम् ।  
 अवश्यं प्रतिपान्यं स्यान्परलोकसुरामये ॥ ५८ ॥  
 चतुर्थं ब्रह्मपर्यं स्याद्प्रतं देवेन्द्रवन्दितम् ।  
 देशतः भाववैर्मासं सर्वतो गुनिनायकैः ॥ ५९ ॥  
 देशतरतइतं धाम्नि स्थितस्यास्य सरागिणः ।  
 उदिता धर्मपत्नी वा सैवसेव्या नपेतरा ॥ ६० ॥  
 ब्रह्मप्रतस्य रक्षार्थं कर्तव्याः पञ्चभावनाः ।  
 महक्षणं यथा सूत्रे भोक्तव्यमत्रापि श्राद्धतिः ॥ ६१ ॥  
 तत्सूत्रं यथा-स्त्रीरागकथाभक्षणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वकतानु-  
 स्मरणं वृष्येष्टरस स्वगरीरसंस्कारस्यागात् पश्य ।  
 शसिद्वं विटचर्पादि दम्पत्योर्षा मिथो रतिः ।  
 अनुरागमन्द्वातायां योपिद्वागकथाभुतिः ॥ ६२ ॥

उक्तं च ।

रतिरूपा तु वा चेष्टा दम्पत्योः मानुरागयोः ।  
 भृंगारः स द्विधा भोक्तः संयोगो विप्रलम्भकः ॥  
 न स्याज्ज्योऽपरदम्पत्योः सम्बन्धी बन्धकारणम् ।  
 भीतिः शृङ्गारशास्त्रादौ सादेवा ब्रह्मचारिभिः ॥ ६३ ॥

अक्षुर्गण्डाधरमीशास्तनोदरनितम्बकान् ।  
 पश्येत्सन्मनोहराङ्गनिरीक्षणमत्यादरान् ॥ ६४ ॥  
 न कर्तव्यं सदङ्गानां भाषणं वा निरीक्षणम् ।  
 कायेन मनसा वाचा ब्रह्माणुग्रतधारिणा ॥ ६५ ॥  
 रतं मोहोदयात्पूर्वं सार्द्धमन्याङ्गनादिभिः ।  
 सत्स्मरणमतीघारं पूर्वैरतानुस्मरणम् ॥ ६६ ॥  
 ब्रह्मभयंघ्नतस्यास्य दोषोयं सर्वतो महान् ।  
 त्याग्यो ब्रह्मपयोजांशुमालिना ब्रह्मचारिणा ॥ ६७ ॥  
 शुभमन्नं यथा माया पयभेष्टरसः स्मृतः ।  
 वीर्यंशुद्धिकरं शान्त्यश्याम्यमित्यादि ब्रह्मणे ॥ ६८ ॥  
 स्नेहाभ्यङ्गादिस्नानानि मान्यं सूक्तं चन्दनानि च ।  
 कुर्यात्स्वयंमात्रं चेत् ब्रह्मातीघारदोषकृत् ॥ ६९ ॥  
 स्वशरीरभेदकाराण्यो दोषोयं ब्रह्मचारिणः ।  
 सर्वतो मुनिना त्याग्यो देशतो गृहमेधिभिः ॥ ७० ॥  
 भावना पद्मनिर्दिष्टा सर्वतो मुनिगोचरा ।  
 तत्राशक्तिर्गृहस्थानां वर्जनीया स्वशक्तिः ॥ ७१ ॥  
 सद्दयन्नेष्टप्राण्यतीघाराः ब्रह्मभयंघ्नतस्य ये ।  
 पञ्चैवेति यथा गूत्रं मूत्राः प्रत्यक्षायादिभिः ॥ ७२ ॥

उक्तं च—परिविवाहकरणम्ब्रह्मिका परिवृद्धीभापरिवृद्धीनामनानां  
 श्रीकाश्यामतीघारनिवेशाः ।

परिविवाहकरणं दोषो ब्रह्मघ्नतस्य च ।  
 स्वन्दो श्लोकप्रसिद्धत्वात्पुनरेव प्रयामो वृथा ॥ ७३ ॥  
 अयं भावः स्वमन्वन्धिरपुत्रादीश्च विवाहपेत् ।  
 परवर्गविवाहाश्च कारयेन्नानुनोदयेत् ॥ ७४ ॥  
 इत्यर्थात्वा न्यात्पुत्रार्थं सा द्विधा प्राग्वथोदिता ।  
 कारित्वार्थपरिवृद्धीनां स्वयंपरिवृद्धीनां च ॥ ७५ ॥

ताभ्यां सतागवागादिवपुस्वजोऽथवा रतम् ।  
 दोषोऽतीघारसंज्ञोऽपि ब्रह्मर्ष्यस्य हानये ॥ ७६ ॥  
 दोषग्रानद्ब्रह्मीहास्य. स्वप्रादी शुक्रविष्युक्तिः ।  
 विनापि कामिनीसद्भातिक्रिया वा कुत्सितोदिता ॥ ७७ ॥  
 कामतीप्राभिनिवेशो दोषोतीघारसंज्ञकः ।  
 दुर्दान्तवेदनाग्रान्तस्मरसंस्कारपीडितः ॥ ७८ ॥  
 ननु धारित म दुर्वारो दुस्व्याख्या मानसी क्रिया ।  
 ब्रह्मग्रतगृहीतस्य मतोत्र वद का गति ॥ ७९ ॥  
 लभ्यते गतिरस्यास्ति वृद्धे मूत्रे प्रमागिता ।  
 यथा कथंचिन्न त्याग्या नीता ब्रह्मग्रतक्रिया ॥ ८० ॥  
 ललं ब्रह्मग्रतं साद्गमनिचारविशर्जितम् ।  
 पाळनीयं सदाशारैः स्वर्गमोक्षसुखपदम् ॥ ८१ ॥  
 कृपाधिपरिमाणस्य साद्विधिआधुनोच्यते ।  
 सति यत्रोदिताना स्याद्ग्रतानां स्थितिमन्वति ॥ ८२ ॥  
 मुनिभिः सर्वतस्त्याग्यं लुणमात्रपरिपहम् ।  
 तत्संख्याशुद्धिभिः कार्या प्रसहिमादिहानये ॥ ८३ ॥  
 अवश्यं द्रविणादीनां परिमाणं च परिपहे ।  
 गृहस्थेनापि कर्तव्यं द्विसाहस्रान्तये ॥ ८४ ॥  
 परिमाणे कृते तस्मादर्थांगमूर्च्छां प्रवर्तेते ।  
 अभाषान्मूर्च्छायास्त्वं मुनित्वमिव गीयते ॥ ८५ ॥  
 तस्मादात्मोचिताद्द्रव्याद् द्वाप्तने तद्वरं स्मृतम् ।  
 अनात्मोचितसंकल्पाद् द्वाप्तनं तन्निरर्थकम् ॥ ८६ ॥  
 अनात्मोचितसङ्कल्पाद् द्वाप्तनं यन्मनीषया ।  
 कुसुमेन्द्रा न कुसुमां तत्सर्वं व्योमचित्रवत् ॥ ८७ ॥  
 प्रत्यप्रजन्मनीद्दमन्त्यन्ताभावलक्षणम् ।  
 तस्यागोपि वरं कैश्चिदुच्यते सारवर्जितम् ॥ ८८ ॥

तत्रोत्सर्गो नृपर्यायम्व्यतिमात्रकृते धनम् ।  
 रक्षणोयं व्रतस्थैस्तैस्त्याज्यं शेषमशेषतः ॥ ८९ ॥  
 अपवादस्नूपात्तानां व्रतानां रक्षणं यथा ।  
 स्याद्वा न स्यानु तद्धानिः संख्यातव्यस्तयोपधिः ॥ ९० ॥  
 रक्षार्थं तद्व्रतस्यापि भावनाः पञ्च सम्मताः ।  
 भावनीयाश्च ता नित्यं यथा सूत्रेपि लक्षिताः ॥ ९१ ॥

तत्सूत्रं यथा—मनोहासमनोक्षेत्रिन्द्रियविषय रागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।  
 इन्द्रियाणि स्फुटं पञ्च पञ्च तद्विषयाः स्मृताः ।  
 यथास्वं तत्परित्यागभावना पञ्च नामतः ॥ ९२ ॥  
 पञ्चस्वेषु मनोक्षेषु भावना रागवर्जनम् ।  
 अमनोक्षेषु तेषूयैर्भावना द्वेषवर्जनम् ॥ ९३ ॥  
 अयमर्थो यदीष्टार्थसंयोगोऽस्ति शुभोदयात् ।  
 तदा रागो न कर्तव्यो हिरण्याद्यपकर्षता ॥ ९४ ॥  
 अधानिष्टार्थसंयोगो दुर्दैवाज्जायते नृणाम् ।  
 तदा द्वेषो न कर्तव्यो धनसंख्याव्रतेऽसिना ॥ ९५ ॥  
 इष्टानिष्टादिशब्दार्थं सुगमत्वात् लक्षितः ।  
 रागद्वेषौ प्रमिद्धौ स्तः प्रयासः सुगमे वृथा ॥ ९६ ॥  
 अप्रार्थान्धारसजाः स्युः दोषाः मन्वाव्रतस्य च ।  
 उदिता सूत्रचारेण त्याग्या व्रतविशुद्धये ॥ ९७ ॥

वृत्तं च—क्षेत्रवास्तुहिरण्यमुवर्गधनधान्यदासीदासकुम्भप्रमाणादि-  
 क्रमाः ।

क्षेत्रं स्याद्दमनिस्थानं धान्याधिष्ठानमेव वा ।  
 गवाघागारमात्रं वा स्वीकृतं यावदात्मना ॥ ९८ ॥  
 मनोऽतिरिक्ते लोभान्मूर्च्छांशुभिरतिक्रमः ।  
 न कर्तव्यो व्रतभेन कृतेऽप्यधिनुरूपनाम् ॥ ९९ ॥

- वास्तु वस्त्रादिमामान्यं तत्संख्यां क्रियतां युधेः ।  
 अनीचारनिवृत्त्यर्थं कार्यो नातिक्रमस्ततः ॥ १०० ॥  
 दिरण्यध्वनिना प्रोक्तं वस्त्रमौक्तिकसत्फलम् ।  
 तेषां प्रमाणमात्रेण क्षणान्मूल्यां प्रतीयते ॥ १०१ ॥  
 अत्र सुवर्णशब्देन ताम्रादिरजतादयः ।  
 संग्या तेषां च कर्तव्या श्रेयासातिक्रमस्ततः ॥ १०२ ॥  
 धनशब्दो गवाक्षयं स्याद्यसुष्पदवाचकः ।  
 विधेय तत्परिमाणं ततो नातिक्रमो वरः ॥ १०३ ॥  
 धान्यशब्देन मुद्रादि यावदन्नकदम्बकम् ।  
 प्रतं तत्परिमाणेन प्रतहानिरतिश्रमान् ॥ १०४ ॥  
 दासकर्मरता दासी श्रिता वा रवीकृता सती ।  
 तत्संख्या प्रतनुद्धयर्थं कर्तव्या मानातिक्रमान् ॥ १०५ ॥  
 यथा दासी तथा दासः संख्या तस्यापि श्रेयसी ।  
 श्रेयानतिक्रमो नैव हिमातृष्णोपभृंहान् ॥ १०६ ॥  
 बुध्यशब्दो घृताद्यर्थस्तद्गण्डं भाजनानि वा ।  
 तेषामप्यर्थाकरणं श्रेयमे स्यादन्नार्थिनाम् ॥ १०७ ॥  
 वस्त्राः संख्याप्रतस्यास्य दोषाः संक्षेपतो मया ।  
 परिहाराः प्रयत्नेन संग्यागुप्रतधारिणा ॥ १०८ ॥  
 प्रोक्तं मूत्रानुसारेण यथागुप्रतपञ्चकम् ।  
 गुणप्रतप्रयं वक्तुमुत्सहेदधुना कविः ॥ १०९ ॥  
 दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः स्यादगुणप्रतम् ।  
 एकत्वादिरत्नेष्वपि त्रेधा विषयभेदतः ॥ ११० ॥  
 दिग्द्विरतिर्येषानाम दिक्षु प्राच्यादिकामु च ।  
 गमनं प्रतिजानीते कृत्यासीमानमार्हतः ॥ १११ ॥  
 सन्त्यत्र विषयाः सौम्रः वननीषुभ्रगापगाः ।  
 अनु तानवधिं कृत्वा गच्छेदधीम तद्दिः ॥ ११२ ॥

पूर्वस्यां दिशि गच्छामि यावद्ब्रह्मस्यु केषलम् ।  
 तदहिर्वपुपानेन न गच्छामि सचेतनः ॥ ११३ ॥  
 एवं कृतप्रतिज्ञस्य संवरः पापकर्मणः ।  
 तदहिः सर्वहिमाया अभाषात्तन्मुनेरिव ॥ ११४ ॥  
 परिपाश्यानयोदीच्यां पश्चिमायां दिशि स्मृताः ।  
 मर्यादोर्द्धमधश्चापि दक्षिणस्यां विदिक्षु च ॥ ११५ ॥  
 तत्करणे महत्क्षेत्रो हिंसा तृष्णाद्वयात्ययान् ।  
 करणीयं ततोऽपश्यं भायकैर्प्रतधारिभिः ॥ ११६ ॥  
 मन्त्रि तत्राप्यनीचाराः पश्येति सूत्रसाधिताः ।  
 मायधाननया स्याज्यास्नेपि तद्वत्सिद्धये ॥ ११७ ॥

तत्सूत्रं यथा—ऊर्ध्व्याधमिर्यग्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।

पश्चिमांश्रीधरागोहे भवेद्दूर्ध्व्यतिक्रमः ।  
 अगाधभूपरावेशाद्विष्यातोऽधोऽव्यतिक्रमः ॥ ११८ ॥  
 कचिद्विकोणदेशादौ क्षेत्रे दीर्घांश्ववर्तिनि ।  
 कारणान्नमनं लोभाद्भवेत्तिर्यग्यतिक्रमः ॥ ११९ ॥  
 यथा मान्यमित्त क्रोश शतं यावद्ब्रनिर्मम ।  
 क्रोशा माश्रवदेशीया क्षेत्रवृद्धिश्च रूपणम् ॥ १२० ॥  
 स्मृतं स्मृत्यन्तराधानं विस्मृतं च पुनः स्मृतम् ।  
 द्युपगं दिग्भिरते स्मादनिर्गीतमित्तया ॥ १२१ ॥  
 प्रोचिना देशविगतियां क्वात्वात्मवर्तिनी ।  
 तन्पशांयाः क्षणं यामदिनमागनुत्पन्मराः ॥ १२२ ॥  
 तद्विषयो गतिन्यागन्तया चाज्ञानवर्जनम् ।  
 मैथुनस्य पशिन्यागो यद्वा मौनादिधारणम् ॥ १२३ ॥  
 यथापि यदि गच्छामि प्राण्यानेवेति केचन्यम् ।  
 चाग्नाश्चापि तच्छामि वेत्तिद्विष्यन्नेवशात् ॥ १२४ ॥

यथा वा यावद्द्याहि भूयान्मेऽनशनं महत् ।

यद्वा सत्रापि रात्रौ च मद्यधर्यं ममास्तु तन् ॥ १२५ ॥

यथा वा वर्षासमये चानुर्मानेऽयं योगिषन् ।

इतः स्यानाप्त गच्छामि कापि देशान्तरे जवान् ॥ १२६ ॥

परिपाटयानया योग्या कृत्तिः स्याद्दृष्टिस्तरा ।

कर्तव्याप यथाशक्ति मातेष हितकारिणी ॥ १२७ ॥

पश्चानिचारसंज्ञाः स्युर्दोषाः सूत्रोदिता पुषैः ।

देशविरतिरूपस्य घनस्यापि मलप्रदा ॥ १२८ ॥

तन्मूर्धं यथा-आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलश्लेषा ।

आत्म महत्त्विकादेशाददिःरिपतस्य घस्तुनः ।

आनयेनीङ्गितैः किञ्चिद् ज्ञापनानयनं मतम् ॥ १२९ ॥

उक्तं केनाप्यनुक्तेन स्वयं सद्यानयान्यहम् ।

एवं कुर्विति नियोगो प्रेष्यप्रयोग उच्यते ॥ १३० ॥

शब्दानुपातनामापि दोषोर्ताचारसंज्ञकः ।

संदेशकारणं दूरे तद्द्वयापारकृतान् प्रति ॥ १३१ ॥

दोषो रूपानुपाताख्यो घनस्यामुष्य विद्यते ।

स्वाङ्गाद्गदर्शनं यद्वा भमस्या चक्षुरादिना ॥ १३२ ॥

अस्ति पुद्गलनिश्लेषनामा दोषोऽत्र संयमे ।

इतो वा प्रेषणं सत्र पत्रिकाहमवाममाम् ॥ १३३ ॥

उक्तानीचारनिर्मुक्तं स्यादेशविरतिर्घनम् ।

कर्तव्यं प्रतिनाशद्वयं हिंसानृष्णादिदानये ॥ १३४ ॥

घनं चानर्थदण्डस्य विरतिर्गृहमेधिनाम् ।

द्वादशघनतृष्णाणामेतन्मूलमिवाह्वयम् ॥ १३५ ॥

एकस्यानर्थदण्डस्य परित्यागो न देहिनाम् ।

अनित्यं स्यादनायामाभ्रान्यथायासकोटिभिः ॥ १३६ ॥

स्वार्थं चान्यस्य संन्यासं विना कुर्यान्न कर्म तन् ।

स्वार्थंश्चावश्यमाश्रत्वा स्वार्थः सर्वो न सर्वतः ॥ १३७ ॥



यथानाम विनोदार्थं जलादि वनक्रीडनम् ।

कायेन मनसा वाचा तद्भेदा बहवः स्मृताः ॥ १३८ ॥

कृतकारितानुमननैस्त्रिकाल विपर्यं मनोवचःकायैः ।

परिहृत्य कर्मसकलं परमं नैःकर्म्यमवलम्बेत् ॥ १३९ ॥

दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यर्थाचारसंज्ञकाः ।

अनर्थदण्डत्यागस्य व्रतस्यास्यापि दूषिकाः ॥ १४० ॥

तत्सूत्रं यथा—कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग-  
परिभोगानर्थक्यानि ।

अस्ति कन्दर्पनामापि दोषः प्रोक्तव्रतस्य यः ।

रागोद्रेकात्प्रहासाहिमिश्रोवाग्योग इत्यपि ॥ १४१ ॥

दोषः कौत्कुच्यसंज्ञोस्ति दुष्टकायक्रियादियुक् ।

पराङ्गस्पर्शनं स्वाङ्गैरर्थादन्धाङ्गनादिषु ॥ १४२ ॥

मौखर्यदूषणं नाम रतप्रायं वचःशतम् ।

अतीव गर्हितं धाष्टर्याद्यद्वात्यर्थं प्रजल्पनम् ॥ १४३ ॥

असमीक्ष्याधिकरणमनल्पीकरणं हि यत् ।

अर्थान्त्वार्थमसमीक्ष्य वस्तुनोऽनवधानतः ॥ १४४ ॥

यथाहारकृते यावज्जलेनास्ति प्रयोजनम् ।

नेतव्यं तावदेवात्र दूषणं चान्यथोदितम् ॥ १४५ ॥

भुज्यते सकृदेवात्र स्यादुपभोगसंज्ञकः ।

यथा सूक्ष्चन्दनं माल्यमध्रपानौषधादि वा ॥ १४६ ॥

परिभोगः समाख्यातो भुज्यते यत्पुनः पुनः ।

यथा योपिदलंकारवस्त्रागारगजादिकम् ॥ १४७ ॥

आनर्थक्यं तयोरेव स्यात्संभविनोद्वयोः ।

अनात्मोपितसंख्यायाः करणादपि दूषणम् ॥ १४८ ॥

यथा दीनश्च दुर्माग्यो वस्तुमंल्यां विष्कीर्षति ।

गृह्णाभ्यशाश्वते यावन्न गृह्णानि ततोधिकम् ॥ १४९ ॥

अणुवनचतुष्करीडसप्तकवर्णनम् ।

निर्दिष्टानर्थदण्डस्य विरतिनाम्ना गुणव्रतम् ।  
अतीषारविनिमुक्तं नूनं निश्चेयसे भवेत् ॥ १५० ॥

शिभाप्रदानि चत्वारि सन्ति स्याद्गृहमेधिनाम् ।  
इतस्तान्यपि वक्ष्यामि पूर्वसूत्रानतिक्रमात् ॥ १५१ ॥

तत्सूत्रं यथा-सामायिकप्रोपधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणा-  
तिथिसंविभागव्रतसम्पन्नम् ।

अर्थात्सामायिकः प्रोक्तः साक्षात्साम्याबलम्बनम् ।  
तदर्थं व्यवहारत्वात्पाठः कालासनादिमान् ॥ १५२ ॥

तत्सूत्रं यथा-

समता सर्वभूतेषु मयमे शुभभावना ।

आतंरौद्रपरित्यागन्तद्धि सामायिकव्रतम् ॥ १ ॥

तद्यथात्प्रातस्तथाय कुर्यादात्मादिचिन्तनम् ।

एकोहं शुद्ध चिद्रूपो नाहं पौड्गलिकं वपुः ॥ १५४ ॥

चिन्तनीयं मनश्चिते सूक्ष्मं पद्मद्रव्यलक्षणम् ।

ततः संसारिणो मुक्त्वा जीवाश्चिन्त्या द्विधार्थतः ॥ १५५ ॥

तत्र संसारिणो जीवाश्चतुर्गति निवासिनः ।

कर्मनोकर्मयुक्तत्वाद् यायिनोऽतीव दुःखिताः ॥ १५६ ॥

पूर्वकर्मोदयाद्भावस्तेषां रागादिमंयुत ।

जायते शुद्धमंशो यस्तरमादन्धोस्ति कर्मणाम् ॥ १५७ ॥

एवं पूर्वापरीभूतो भावश्चान्योन्यहेतुकः ।

सक्यते न पृथक् कर्तुं यावत्संसारसंश्लक्षः ॥ १५८ ॥

एवं वाऽनादिसन्तानाद्भ्रमतिरम चतुर्गतौ ।

जन्ममृत्युजरातद्दुःखाक्रान्तः स प्राणधृत् ॥ १५९ ॥

तत्र कश्चन भव्यात्मा काललब्धिवशादिद् ।

हृत्तनकर्मक्षयं कृत्वा संसारादि प्रमुच्यते ॥ १६० ॥

अस्ति सर्वज्ञानज्ञान चारित्र्याण्यत्र कारणम् ।

हेतुस्तेषां समुत्पत्तौ काललब्धिः परं स्वतः ॥ १६१ ॥

इत्यादि जगत्सर्वं स्वं चिन्तयेत्तन्मुद्गुर्मुद्गुः ।

नूनं संवेगवैराग्यवर्द्धनाय महामतिः ॥ १६२ ॥

उक्तं च—जगत्कायस्वभावौ या संवेगवैराग्यार्थम् ।

चिन्तनानन्तरं चेति चिन्तयेदात्मनो गतिम् ।

फोहं कुतः समायातः क्व यास्यामि जयादितः ॥ १६३ ॥

हेयं किं किमुपादेयं मम शुद्धचिदात्मनः ।

कर्तव्यं किं मया त्याज्यमधुना जीयनावधि ॥ १६४ ॥

इति चिन्तयतस्तस्य संवेगो जायते गुणः ।

संसारभवभोगेभ्यो वैराग्यं चोपसृंहति ॥ १६५ ॥

ततः साधुसमाधिश्च सामायिकप्रतान्वितः ।

ततः सामायिकीं क्रियां कुर्याद्वा शल्यपर्जितः ॥ १६६ ॥

तज्जिनेन्द्रगुणम्लोत्रं पठेत्पद्यादिलक्षणम् ।

मिथानामथ माधूनां कुर्यान्मौपि गुणान्मुनिम् ॥ १६७ ॥

ततोऽर्द्धद्वारतो मृत्या जगच्छान्तिमधीय च ।

क्षणं ध्यानस्थितो मृत्या चिन्तयेत्शुद्धचिन्मयम् ॥ १६८ ॥

ततः सम्पूर्णतां नीत्वा ध्यानं कालानतिक्रमात् ।

संस्तुतानां यथाशक्ति तत्पूजां कर्तुमर्हति ॥ १६९ ॥

ज्ञानं कुर्यात्प्रयत्नेन संशुद्धैः प्रामुक्तोदकैः ।

शुद्धोपाद्धौतयस्त्राणि दृष्टिपूतानि प्रायतः ॥ १७० ॥

ततः शनैः शनैर्गत्या स्वमग्नम्यजिनालये ।

द्रव्याण्यथैव जलादीनि मय्यगात्स्य भाजने ॥ १७१ ॥

तत्रस्थानं जिनचिम्बंश्च मिद्वयन्त्रान् ममर्षयेत् ।

दुर्जनज्ञानचारित्रप्रयं स्थाप्य ममर्षयेत् ॥ १७२ ॥

ज्ञेयानपि यथाशक्ति गुणान्यर्षयेद्द्विती ।

अत्र संश्लेषमात्रत्वादुक्तमुद्गुत्तमो मया ॥ १७३ ॥

अस्त्यत्र पञ्चधा पूजा मुख्यमाह्वानमात्रिका ।  
प्रतिष्ठापनसंज्ञाय मन्त्रिधीकरणं तथा ॥ १५४ ॥

ततः पूजनमत्रास्ति ततो नाम विमर्जनम् ।  
पञ्चधेये समान्याता पञ्चकल्याणदायिनी ॥ १५५ ॥

तद्विधिश्चात्र निर्दिष्टुमर्हन्नप्युपलक्षितः ।  
स्मृतं संक्षेपसंकेताद्विधेध्वार्तीय विस्तरान् ॥ १५६ ॥

एवमित्याद्यवश्यंस्यात्कर्तव्यं प्रतपारिभिः ।  
अस्ति चेदात्मसामर्थ्यं कुर्यादाप्यपरं विधिम् ॥ १५७ ॥

अर्चयेद्यत्वेदमस्यानर्हद्विम्बादिकानपि ।  
मूर्ध्निपाध्यायसाधुंश्च पूजयेद्भक्तितो प्रती ॥ १५८ ॥

ततो मुनिमुद्योद्रीयं प्रोक्तं वा सद्यसुरेभिः ।  
धर्मस्य भक्षणं कुर्यादादराद् शानपशुषु ॥ १५९ ॥

इहकार्यं ततः कुर्यादान्मनिन्दादिमानसम् ।  
ततो मध्याह्निके प्राप्ते भूयः कुर्यात्सु विधिम् ॥ १६० ॥

अनिधिमविभागस्य भावनां भावयेदपि ।  
मध्याह्नादीपदर्वाग्वै नातः कालाद्यतिक्रमे ॥ १६१ ॥

भोजयित्वा स्वयं यावत्क्षणं शेते मुत्पानया ।  
पारयेद्धर्मभवनं पूर्वाह्ने यच्छतं स्मृतः ॥ १६२ ॥

उद्गापोहोपि कर्तव्यं सार्धं चापि मधर्मिभिः ।  
अस्ति चेद् शानसामर्थ्यं कार्यं शास्त्रान्दलोचनम् ॥ १६३ ॥

इहकार्यं ततः कुर्याद्भूयः संध्यावधेरिह ।  
ततः सायंतने प्राप्ते कुर्यात्सामाधिर्वा विद्याम् ॥ १६४ ॥

विद्यापराह्निके काले त्रिनविम्बान् प्रागर्चयेत् ।  
ततः सामाधिकं कुर्यादुत्थेन विधिना प्रती ॥ १६५ ॥

ततश्च रायने कुर्यात्पानिर्घ्नं यथोचितम् ।  
निशीथे पुनस्तथाय कुर्यात्सामाधिर्वा विद्याम् ॥ १६६ ॥

तत्रार्द्धरात्रके पूजां न कुर्यादर्हतामपि ।

हिंसाहेतोरवश्यं स्याद्वात्रौ पूजाविवर्जनम् ॥ १८७ ॥

एवं प्रवर्तमानश्च सागारे व्रतवानिह ।

स्वर्गादिसम्पदो मुक्त्वा निर्वाणपदभाग्भवेत् ॥ १८८ ॥

सामायिकव्रतस्यापि पञ्चातीचारसंज्ञकाः ।

दोषाः सन्ति प्रसिद्धास्ते त्याग्याः सूत्रोदिता यथा ॥ १८९ ॥

तत्सूत्रं यथा—योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।

सामायिकादितोन्यत्र मनोवृत्तिर्यदा भवेत् ।

मनोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोतीचारसंज्ञकः ॥ १९० ॥

ध्यायोगोपि ततोन्यत्र हुङ्कारादिप्रवर्तते ।

ध्वचोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोतीचारसंज्ञकः ॥ १९१ ॥

काययोगस्ततोन्यत्र हस्तसंज्ञादिदर्शने ।

वर्तते तदतीचारः कायदुष्प्रणिधानकः ॥ १९२ ॥

यदाऽऽलस्यतया मोहात्कारणाद्वा प्रमादतः ।

अनुत्साहतया कुर्यात्तदाऽनादरदूषणम् ॥ १९३ ॥

अस्ति स्मृत्यनुपस्थानं दूषणं प्रकृतस्य यत् ।

न्यूनं वर्षैः पदैर्वाक्यैः पठ्यते यत्प्रमादतः ॥ १९४ ॥

ख्यातं सामायिकं नाम व्रतं चाणुव्रतार्थिनाम् ।

अतीचारविनिर्मुक्तं भवेत्संसारविच्छिदे ॥ १९५ ॥

स्यात्श्रोत्रोपधोपवासाख्यं व्रतं च परमौषधम् ।

जन्ममृत्युव्रतानृषिभ्यंसनयिचक्षणम् ॥ १९६ ॥

चतुर्दशानसंन्यासो यावद्यामात्रं षोडश ।

स्थितिर्निरयद्यस्थाने व्रतं श्रोत्रोपधसंज्ञकम् ॥ १९७ ॥

कृतं ज्यं तदवश्यं स्यात्पर्वण्यां श्रोत्रोपधव्रतम् ।

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यथाशक्त्यपि चान्यथा ॥ १९८ ॥

धारणाहिं श्रयोर्दश्यां मभ्याह्ने कृतभोजनः ।

विष्टेन्स्थानं समासाद्य नीरागं निरव्ययम् ॥ १९९ ॥

नश्रं च निषमेद् रात्रौ जागरूषो यथावल्गम् ।

प्रातरादिदिनं कृत्स्नं धर्मध्यानैर्नयेद्ब्रवी ॥ २०० ॥

जलपानं निषिद्धं स्यान्मुनिवत्तत्र शोषणे ।

न निषिद्धाऽनिषिद्धा स्याद्दृष्टपूजा जलादिभिः ॥ २०१ ॥

यदा सा क्रियते पूजा न दोषोऽस्ति तदापि वै ।

न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चन ॥ २०२ ॥

एकमित्यादि तत्रैव नीत्वा रात्रिं च धर्मधीः ।

कृतक्रियोऽश्नं कुर्यान्मध्याह्नं पारणादिने ॥ २०३ ॥

ब्रह्मचर्यं च कर्तव्यं धारणादि दिनत्रयम् ।

परपोषिन्निषिद्धा प्रागिदं त्वात्मकलत्रके ॥ २०४ ॥

स्युः शोषधोषधामस्य दोषाः पञ्चोदिता स्मृतौ ।

निरस्यासौ प्रतप्यैः सागारैरपि यत्नतः ॥ २०५ ॥

तस्मिन् यथा—अप्रत्यवेक्षिताप्रमोर्जितोरसर्गादानसंस्तरोषधमणा-  
नादरसृत्वनुपस्थानानि ।

जीवाः सन्ति नवा सन्ति कर्तव्यं प्रत्यवेक्षणम् ।

चक्षुष्योपासनां स्यात्सूत्रात्तदर्थं यथा ॥ २०६ ॥

प्रमार्जने च मुहुभिः यमोपवरणैः कृतम् ।

ऊसर्गादानसंस्तरोषधं शोषधुंक्षणम् ॥ २०७ ॥

अप्रत्यवेक्षितं तत्र यथा स्याद्प्रमार्जितम् ।

सूत्रानुसारेण एवास्ति दोषः शोषधसंयमे ॥ २०८ ॥

यथासंस्तरोषधदाने संस्तरोषधप्रमत्तया ।

नन्नामानोऽप्यहीचारा दोषाः शोषध प्रतप्य ते ॥ २०९ ॥

शेषः पूर्वोक्तसंस्तरोषधानुपस्थानोप्यनादरः ।

शोषधोऽपोषितस्यास्य दोषोऽतीत्यसंस्तरोषधः ॥ २१० ॥

स्यात्तस्मिन्नुपस्थाने दूष्यं शोषधस्य तत् ।

अनैकाग्र्यं तदेव स्याद्वृक्षाणादपि लक्षणम् ॥ २११ ॥

प्रोपधोपवासस्यात्र लक्षणं कथितं मया ।

इतः संख्याोपभोगस्य परिभोगस्य चोच्यते ॥ २१२ ॥

निर्दिष्टं लक्षणं पूर्वं परिभोगोपभोगयोः ।

तयोः संख्या प्रकृतव्या सागारैर्ग्रतधारिभिः ॥ २१३ ॥

सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्च सूत्रोदिता बुधैः ।

परिहार्याः प्रयत्नेन श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥ २१४ ॥

तत्सूत्रं यथा—सचित्तमबन्धसन्मिश्रामिषवदुःपकाहाराः ।

चिकीर्षन्नपि तत्संख्यां सचित्तं यो न मुञ्चति ।

दोषः सचित्तसंज्ञोस्य भवेत्संख्याग्रतस्य सः ॥ २१५ ॥

तथाविधोपि यः कश्चिच्चेतनाधिष्ठितं च यत् ।

वस्तुसंख्यामकुर्वाणो भवेत्सम्बन्धदूषणम् ॥ २१६ ॥

मिश्रितं च सचित्तेन वस्तुजातं च वस्तुना ।

स्वीकुर्वाणोप्यतीचारं सन्मिश्राख्यं च न त्यजेत् ॥ २१७ ॥

आहारं स्निग्धमादिश्च ? दुर्जरं जठराग्निना ।

असंख्यातवतस्तस्य दोषो दुष्पकसंज्ञकः ॥ २१८ ॥

उक्तानिचारनिर्युक्त परिभोगोपभोगयोः ।

संख्यावतं गृहस्थानां श्रेयसे भवति ध्रुवम् ॥ २१९ ॥

अतिधिसंविभागाख्यं प्रतमस्ति प्रतार्थिनाम् ।

सर्वग्रतशिरोरन्नमिहामुत्र सुखप्रदम् ॥ २२० ॥

इषन्न्यूने च मध्याह्ने कुर्याद् द्वारावलोकनम् ।

दातुकामः सुपात्राय दानोपाय महात्मने ॥ २२१ ॥

नत्पात्रं त्रिविधं ज्ञेयं तत्राप्युत्कृष्टमादिमम् ।

द्वितीयं मध्यमं ज्ञेयं तृतीयं तु जघन्यकम् ॥ २२२ ॥

उक्तं च ।

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुग्रनाड्यं

मध्यं प्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।

निर्दर्शनं प्रतनिकाययुतं कुपात्रं  
गुणमोक्षितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ।

एतेष्वन्यतमं प्राप्य दानं देयं यथाविधि ।  
प्राप्तुकं शुद्धमाहारं विनयेन समन्वितम् ॥ २२३ ॥

पात्रालाभे यथाचित्तं पञ्चान्नापपरो भवेत् ।  
अधमं विफलं जन्म भूयोभूयश्च चिन्तयेन् ॥ २२४ ॥

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथाययम् ।  
केवलं तत्कृपादानं देयं पात्रधिया न हि ॥ २२५ ॥

अस्ति सूत्रोदितं शुद्धं तत्रार्थाधारपञ्चकम् ।  
अतिधिमंविभागात्प्रत्नरक्षार्थं परित्यजेन् ॥ २२६ ॥

तत्सूत्रं यथा—सचित्तनिक्षेपाधिधानपरिष्यपदेशमात्सर्यकाल  
विक्रमाः ।

सचित्ते पञ्चपत्रादौ निक्षेपोऽस्मादिषस्तुनः ।  
दोषः सचित्तनिक्षेपो भवेदन्वर्थमंज्ञक ॥ २२७ ॥

अधिधानमावरणं सचित्तेन कृतं यदि ।  
स्यात्सचित्ताधिधानाख्यं दूषणं प्रतधारिण ॥ २२८ ॥

आत्मार्कीनं गुणिज्ञानं त्वं प्रयच्छेति योजनम् ।  
दोषः परोपदेशस्य करणाख्यां प्रतात्मन ॥ २२९ ॥

प्रयच्छन्नप्रच्छममादि गर्बमुद्धरते यदि ।  
दूषणं लभते सोऽपि महामारमर्थमंज्ञकम् ॥ २३० ॥

इषन्न्यनाथ मय्यान्दारान्कालादधोयथा ।  
उद्धं तद्भावनादतोदोषं कालक्यतिक्रम ॥ २३१ ॥

एतेदोषैर्विनिर्मुक्तं पात्रेभ्यो दानमुत्तमम् ।  
अतिधिमंविभागात्प्रत्नं तस्य गुणान्नये ॥ २३२ ॥

यथान्मज्ञानमारुयातं संख्यात्रयचतुष्टयम् ।  
अस्ति सत्तेगना कार्यो तद्वतो मारणान्तरा ॥ २३३ ॥

सोऽस्ति सत्तेगनाबाधो जीर्वे क्यति चापवा ।



दैवाद्दोरोपसर्गेऽपि रोगेऽसाध्यतरेऽपि च ॥ २३४ ॥  
 क्रमेणाराधनाशास्त्रप्रोक्तेन विधिना व्रती ।  
 वपुषश्च कपायाणां जयं कृत्वा तनुं त्यजेत् ॥ २३५ ॥  
 धन्यास्ते वीरकर्माणो ज्ञानिनस्ते व्रतावहाः ।  
 येषां सहेखनामृत्युः निष्प्रत्यूहृतया भवेत् ॥ २३६ ॥  
 दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः ।  
 अन्त्यसहेखनायास्ते मंत्याग्याः पारलौकिकैः ॥ २३७ ॥

तत्सूत्रं यथा—जीवितमरणाशंसा मित्रानुरागमुखानुबन्धनिदानानि ।

आशंसा जीविते मोहाद् यथेच्छेदपि जीवितम् ।  
 यदि जीव्ये वरं तावदोषोऽयं यत्समस्यते ॥ २३८ ॥  
 आशंसा मरणे चापि यथेच्छेन्मरणं द्रुतम् ।  
 वरं मे मरणं तूर्णं मुक्तः स्यां दुःखसंकटात् ॥ २३९ ॥  
 दोषो मित्रानुरागाख्यो यन्नेच्छेन्मरणं क्वचित् ।  
 पुरस्तान्मित्रतो मृत्युवरं पश्चान्न मे वरम् ॥ २४० ॥  
 दोषः मुखानुबन्धाख्यो यथात्रास्मीह दुःखवान् ।  
 मृत्वापि व्रतमाहात्म्याद् भविष्येऽहं सुखो क्वचित् ॥ २४१ ॥  
 दोषो निदानबन्धाख्यो यथेच्छेन्मरणं कुधीः ।  
 भवेयं व्रतमाहात्म्यादस्य घाताय तत्परः ॥ २४२ ॥  
 यदि वा मरणं चेच्छेन्मोहोद्रेकात्स मूढधीः ।  
 भवेयं घोषकाराय मित्रस्यास्य व्रतादितः ॥ २४३ ॥  
 यदिवा मरणं चेच्छेदज्ञानाद्वा सुखाशयाः ।  
 भूयान्मे व्रतमाहात्म्यात्स्वर्गश्रीरद्विवादिनी ॥ २४४ ॥  
 एतेदोषैर्निनिर्मुक्तमन्त्यसहेखनात्रयम् ।  
 स्वर्गापवर्गसौख्यानां मुधाषानाय जायते ॥ २४५ ॥



तत्र हेतुवशात्कापि कुर्यात्कुर्यान्नवा क्वचित् ।  
 सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥ ७ ॥  
 अत्रावश्यं त्रिकालेषु कार्यं सामायिकं जगन् ।  
 अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥ ८ ॥  
 अन्यत्राप्येवमित्यादि यावदेकादशस्थितिः ।  
 व्रतान्येव विशिष्यन्ते नार्थादर्थान्तरं क्वचित् ॥ ९ ॥  
 शोभतेऽतीव संस्कारात् साक्षादाकरजो मणिः ।  
 संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥ १० ॥  
 स्यात्प्रोषधोपवासाख्या चतुर्थी प्रतिमा शुभा ।  
 कर्तव्या निर्जराहेतुः संवरस्यापि कारणम् ॥ ११ ॥  
 अस्त्यत्रापि समाधानं वेदितव्यं तदुक्तवत् ।  
 सातिचारं च तत्र स्यादत्राहीचारवर्जितम् ॥ १२ ॥  
 द्वादशव्रतमध्येपि विद्यते प्रोषधं व्रतम् ।  
 तदेवात्र समाख्यानं विशेषस्तु विवक्षितः ॥ १३ ॥  
 अवश्यमपि कर्तव्यं चतुर्थप्रतिमाव्रतम् ।  
 कर्मकाननकोटीनामसि दावानलोपमम् ॥ १४ ॥  
 पञ्चमी प्रतिमा चास्ति व्रतं सागारिणामिह ।  
 तत्तच्चित्रपरित्यागलक्षणं भक्ष्यगोचरम् ॥ १५ ॥  
 इतः पूर्वं कदाचिद्वै सचित्तं वस्तु भक्षयेत् ।  
 इतः परं स नास्तुयात्सचित्तं तज्जलाद्यपि ॥ १६ ॥  
 भक्षणेऽथ सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने ।  
 तत्त्वद्दस्नादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत् ॥ १७ ॥  
 रात्रिभक्तपरित्यागलक्षणा प्रतिमास्ति सा ।  
 विख्याता मंथ्यया पृष्ठी सप्तस्यभायकोचिता ॥ १८ ॥  
 इतः पूर्वं कदाचिद्वा पयःपानादि स्यान्निरिदि ।  
 इतः परं परित्यागः सर्वथा पयसोपि तत् ॥ १९ ॥



सूक्ष्मं चापि न गृहीयादीपत्सावद्यकारणम् ॥ ५७ ॥

कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वाचंयमिक्रिया ।

विद्यते चैलकस्यास्य दुर्द्धरं व्रतधारणम् ॥ ५८ ॥

तिष्ठेष्वेत्यालये संधे वने वा मुनिमन्निधौ ।

निरवद्ये यथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥ ५९ ॥

पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात् ।

इपन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत्पुरे ॥ ६० ॥

इर्यासमितिसंशुद्धः पर्यटेद्गृहसंख्यया ।

द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमशुभान् ॥ ६१ ॥

दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम् ।

तपो द्वादधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि वाचरेत् ॥ ६२ ॥

शुल्लकः कोमलाचारः शिखासूत्राङ्कितो भवेत्

एकवस्त्रे सकौपीने वस्त्रपिच्छकमण्डलुम् ।

॥ भिक्षापात्रं च गृहीयात्कास्यं यद्वाप्ययोमय

एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः ॥ ६

शौरं रमशुशिरोलोभ्रां शेषं पूर्ववदाचरेत् ।

अतीचारे समुत्पन्ने प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥

यथा निर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत्

पात्रे भिक्षां समादाय पद्मागारादिहालिबत्

तत्राप्यन्यत्तमे गेहे दृष्ट्वा प्रामुकमम्बुकम् ।

क्षणं चातिथिभागाय संप्रेक्ष्यार्थं च भोजये

देवात्पात्रं समासात्त दद्यादानं गृहस्थवम् ।

तच्छेषं यत्स्वयं मुक्ते नोचेत्कुर्यादुपोषितम्

किञ्च गन्धादिद्रव्याणामुपलब्धौ सधर्मिभिः

अर्हद्विम्बादिसाधूनां पूजा कार्या मुदानमता

किञ्चात्र माधकाः केचित्केचिद्गृहादद्याः पु



सूक्ष्मं चापि न गृह्णीयादीपत्सावद्यकारणम् ॥ ५७ ॥  
 कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना याचंयमिक्रिया ।  
 विद्यते चैलकस्यास्य दुर्द्धरं व्रतधारणम् ॥ ५८ ॥  
 तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिमन्निधौ ।  
 निरवचे यथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥ ५९ ॥  
 पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात् ।  
 इपन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेपुरे ॥ ६० ॥  
 ईर्यासमितिसंशुद्धः पर्यटेद्गृहसंख्यया ।  
 द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमभुयान् ॥ ६१ ॥  
 दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम् ।  
 तपो द्वादधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि वाचरेत् ॥ ६२ ॥  
 क्षुद्रकः कोमलाचारः शिखासूत्राङ्कितो भवेत् ।  
 एकवस्त्रं सकौपीनं वस्त्रपिच्छकमण्डलुम् ॥ ६३ ॥  
 भिक्षापात्रं च गृह्णीयात्कास्यं यद्वाप्ययामयम् ॥  
 एषणादोपनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः ॥ ६४ ॥  
 क्षौरं श्मश्रुशिरोलोम्नां शेषं पूर्ववदाचरेत् ।  
 अतीचारे समुत्पन्ने प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ ६५ ॥  
 यथा निर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत् ।  
 पात्रे भिक्षां समादाय पञ्चागारादिहालिवन् ॥ ६६ ॥  
 तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रामुकमम्बुकम् ।  
 क्षणं चातिथिभागाय संप्रेक्ष्यात्वं च भोजयेत् ॥ ६७ ॥  
 दैवात्पात्रं समासाद्य दद्यादानं गृहस्थवत् ।  
 तच्छेषं यत्स्वयं भुंक्ते नोचेत्कुर्यादुपोषितम् ॥ ६८ ॥  
 किञ्च गन्धादिद्रव्याणामुपलब्धौ सधर्मिभिः ।  
 अर्हद्विम्बादिसाधूनां पूजा कार्या मुदात्मना ॥ ६९ ॥  
 किञ्चात्र माधकाः केचित्केचिद्गूढाद्रयाः पुनः ।

बाणप्रस्थान्यकाः केचित्मर्षे तद्देशधारिणः ॥ ७० ॥

क्षुब्धीवतिक्रिया तेषां नात्युग्रं नातोष मृदुः ।

मध्यवर्तिप्रतं तद्वत्पञ्च शुधात्ममाक्षिकम् ॥ ७१ ॥

अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र साधकादिषु कारणाम् ।

अगृहीतप्रताः कुर्वन्मताभ्यासं मताशयाः ॥ ७२ ॥

मनभ्यस्त्वप्रताः केचिद् प्रतं गृह्णन्ति माह्वमान् ।

न गृह्णन्ति प्रतं केचिद् गृहे गच्छन्ति कातराः ॥ ७३ ॥

एवमित्यादि दिग्भात्रं मया प्रोक्तं गृहितम् ।

हृत्पाद्यकादशं यावन् शेषं ज्ञेयं जिनागमान् ॥ ७४ ॥

अस्त्युत्तरगुणं नात्रां तपो द्वादशधा मतम् ।

सूचामात्रं प्रवक्ष्यामि देशतोऽत्र धारिणाम् ॥ ७५ ॥

तत्सूत्रं यथा—अनशनावमोदयंपृथिपरिमेल्यान्नरमपरित्याग  
विविक्तशय्यासन कायहेशा वाद्यं तपः ।

साशादिचतुर्द्धाहारसन्यासोऽनशनं मतम् ।

केवलं भक्तसलिलमयमोदयमुच्यते ॥ ७६ ॥

त्रिचतुःपञ्चपष्टादिवस्तूनां संख्ययाऽशनम् ।

सनादिमैत्र्यया यद्वा पृथिसन्ध्या भक्षयते ॥ ७७ ॥

मधुरादिरमानां यत्समस्ते ह्यस्तमेव वा ।

परित्यागो यथाशक्ति रमत्यागः स लक्ष्यते ॥ ७८ ॥

एषान्ते विजनस्थाने सरागादिदोषोऽज्ञिते ।

शय्या यद्वासनं भिन्नं शय्यासनमुदीरितम् ॥ ७९ ॥

आनापनादियोगेन धीर्यैर्यासनेन वा ।

बभुवः हेतुकरणं कायहेशाः प्रकीर्तितं ॥ ८० ॥

पोदा वाद्यं तपः प्रोक्तं मेषमित्यादिलक्षणैः ।

अधुना लक्ष्यतेऽस्माभिःपोदा वाच्यन्तरं तपः ॥ ८१ ॥

तत्सूत्रं यथा—प्रायश्चित्तदिनयवैशान्तरवाच्यपुस्तकं वाच्यम्—  
तरम् ।



ज्झारू द्वितीयपुत्रस्य कटुराम्यस्य धर्मिणः ।

भार्या तिहुणाहि नाम्ना नाथू नाम सुतस्तयोः ॥ ३५ ॥

नाथूभार्या चितारुही स्यात्पुत्रो रुद्रा तयोर्द्वयोः ।

ज्झारू चतुर्थपुत्रस्य भार्या चुंही ममाख्यया ॥ ३६ ॥

तयोः पुत्रस्तु गांगू स्यादात्मवंशावतसंकः ।

एते सर्वेपि जैनाः स्युः कीर्त्या संघेश्वराः स्मृताः ॥ ३७ ॥

एतेषामन्तिमध्ये गृह्युपरुचिमान् फामनः संघनाथ

म्नेनोषैः कारितैयं सदनसमुचिता संहिता नाम लार्टी ।

श्रेयर्थं फामनीयैः प्रमुदितमनसा दानमानामनाद्यैः

स्वोपहाराजमङ्गेन विदितविदुषा मांपिना हैमचन्द्रे ॥ ३८ ॥

इतिथ्रीवंशस्थितिवर्णनम् ।

यावद्व्योमापगाम्भो नभसि परिगतौ पुष्पदन्तौ दिवीशौ

यावत्त्रेये व्र दिव्या प्रभवति भरतो भारती भारतेस्मिन् ।

तावन्मिद्धान्तमेतज्जयतु जिनयतेराज्ञया ख्यातलक्ष्म

तावत्त्वं फामनाव्यः श्रियमुपलभतां जैनसंघाधिनाथः ॥ ३९ ॥

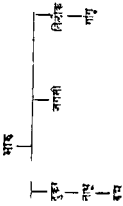
इत्यार्षीर्षादः ।

यावन्मेरुर्धरार्षीठे यावच्चन्द्रदियाकरौ ।

धाच्यमानं सुधैस्तावशिषं नन्दतु पुस्तकम् ॥ ४० ॥

ग्रन्थकर्तुः वंशवृक्षः ।

द्वय



न्योला







